आलोचना व निबन्ध

रहस्यवाद

लेखक
रामरतन भटनागर
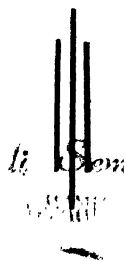
कि ता ब म ह ल

रहस्यवाद

'रहस्यवाद' भारतीय दार्शनिक चिंतना और काव्य की एक महत्वपूर्ण धारा रही है। इस धारा का इतिहास वेदों और उपनिषदों तक जाता है। उपनिषद को भारतीय रहस्यवाद के आदि स्रोत ही समझिए, विशेषतयः श्वेताश्वेतर उपनिषद। इन उपनिषदों में एक महान, सर्वव्यापी, सर्वग्राही, प्रेममय चित्सत्ता की कल्पना की गई जिसकी जीव में केवल आंशिक अभिव्यक्ति हो पाई है। उपनिषदों की साधना का लक्ष्य इसी महान चित्सत्ता से जीव का तादात्म्य कराना है। अनेक रूपकों में, अनेक चित्रों और दृष्टांतों में उपनिषद के ऋषि ने इसी चित्सत्ता (ब्रह्म) की अनिर्वचनीयता की बात कही है। जब-जब भारत में आत्मदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ी है, तब-तब साधकों ने बार-बार उपनिषदों की ओर देखा है और उनसे बल प्राप्त किया है। गोरख-नाथ, कबीर, दादू और आधुनिक रहस्यवाद पर उपनिषदों के रहस्य-चिंतन का स्पष्ट प्रभाव है।

परंतु केवल उपनिषद का आत्मवाद ही भारतीय रहस्यवाद नहीं है। भारत वर्ष की भूमि भक्तिप्रधान साधना के लिए बड़ी उर्वरा रही है और योग, भक्ति, सूफ़ीमत इत्यादि के रूप में अनेक प्रकार की रहस्यवादी धाराओं का प्रवर्तन हुआ है। हिंदी काव्य का सर्वोत्कृष्ट भाग इसी रहस्यवादी चिंतन और भावना को प्रकाशित करता है।

'रहस्यवाद' का सर्वांगीण विवेचन इस पुस्तक का विषय नहीं है। हिंदी साहित्य में रहस्यवादी धाराओं का प्रकाशन किस रूप में हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि क्या है, उनकी महत्ता क्या है, यही इस ग्रंथ का विषय है। विवेचना के लिए ऐतिहासिक और आलोचनात्मक शैलियों को ही ग्रहण किया गया है। आशा है यह पुस्तक 'रहस्यवाद'-संबंधी हिंदी कविता को पाठक के सुगम्य और सुलभ्य बनायेगी। हो सका तो लेखक 'रहस्यवाद' का वृहद् तात्विक विवेचन उपस्थित करेगा। परंतु अभी इतना ही।

—

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

१

रहस्यवाद : तात्विक विवेचन

'रहस्यवाद' एक अत्यंत आधुनिक शब्द है जो अंग्रेज़ी के मिस्टिसिज्म शब्द का पर्यायवाची समझा जाता है और इसी शब्द के अनुसार मिस्टिक शब्द के लिए रहस्यवादी शब्द का प्रयोग होता है। स्वयं रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ हुई हैं, परंतु उन परिभाषाओं में इतना बड़ा मतभेद है कि किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचना कठिन है। रहस्यवाद किसे कहा जाय, रहस्यवाद और अध्यात्म में क्या अंतर है, रहस्यवादी भावना का क्या रूप है, इत्यादि विषयों में न सब रहस्यवादी एकमत हैं, न उनके आलोचक एवं प्रशंसक। वेदों और उपनिषदों के समय से आज तक रहस्यवाद के नाम पर इतना लिखा गया है कि आज उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। केवल हिन्दू धर्म का ही सम्बन्ध रहस्यवाद से नहीं है, संसार के लगभग सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में रहस्यवाद की धारा मिल जाती है। अनेक संत, भक्त और आप्त पुरुष अनेक-अनेक प्रतीकों और अनेक-अनेक प्रकार से किसी अलौकिक स्वसंवेद्य अनुभव की बात कहते हैं तो उसे अविश्वास की फूँक से उड़ाया नहीं जा सकता। प्रत्येक धर्म की अपनी-अपनी परिभाषाएँ हैं, अपने-अपने प्रतीक हैं, उन्हीं के भीतर से हम उस-उस धर्म के विशेष रहस्यवादी रूप की झाँकी पाते हैं, परन्तु बहुत सी बातें इतने आश्चर्य रूप में एक-जैसी मिलती हैं कि हम मुग्ध रह जाते हैं। उदाहरण के लिए रतिभाव या मादन-भाव के प्रतीक की बात लीजिये।

सभी रहस्यवादियों ने परोक्ष सत्ता के प्रति अपनी अनुभूति को स्त्री-पुरुष के गहरे आकर्षण और तज्जनित मादन-भाव के माध्यम से प्रकाशित किया है। चाहे राबिया हो, या मीरा या अन्दाल, या कबीर या जायसी इस विषय में सब में समानता है। सब अपने उच्चतम अनुभवों को अत्यन्त अलौकिक बता कर उसके विषय में मौन हो जाते हैं। उनका कहना है कि यह अनुभव सरलता से प्रगट नहीं किया जा सकता। यह गूँगे का गुड़ है। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के धर्म के इतिहास में हमें ऐसे मनुष्य मिलते हैं जिन्हें कर्मकाण्ड से घृणा हैं, जो पारिभाषिकता के चक्कर में नहीं पड़ते, जो हृदय को शास्त्र से अधिक महत्व देते हैं। उन्होंने अपने को अपने अंतरतम (आत्म) की संवदेनाओं के हाथ में छोड़ दिया है। वे प्रतीक को पार करके उससे आत्मसात करना चाहते हैं जिसके आधार पर प्रतीक खड़ा किया गया है। परोक्षसत्ता का प्रज्ञात्मक अनुभव उनका लक्ष्य है। वह मानवीय शक्तियों से ऊपर उठ कर दैवी शक्तियों की ओर बढ़ते हैं। मतमतांतर के भेदों-प्रभेदों और विचारों के संघर्ष के बीच यह जानकर आश्चर्य होता है कि प्रत्येक धर्म और जाति में रहस्यवादी अनुभव लगभग एक से रहे हैं। इन रहस्यवादियों की आकांक्षाएँ और प्रवत्तियाँ समान रही हैं और इससे लगभग सब जीवन के कुछ क्षणों में उन उलझनों और उन संवेदनाओं का अनुभव करते हैं जो उनकी उलझनों और संवेदनाओं की भाँति केवल बुद्धि के लिए अगम्य हैं। हमारे भीतर-बाहर जिस प्रकार तरह-तरह के आकर्षण, तरह-तरह के रहस्य, तरह-तरह की आशाकांक्षाएँ हैं, उसी तरह, उनके भीतर-बाहर भी थीं। लगभग सब के सम्बन्ध में एक ही बात रही है—सब ने चरमसत्ता को बाहर पाने की चेष्टा की और वे असफल रहे। तब हार कर वे आभ्यांतर की ओर मुड़े। उन्होंने प्रज्ञा (Conscience) की आवाज़ सुनी, प्रेम से प्रेम का परिचय पाया, अपनी आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों के भीतर ही अपनी मुक्ति खोजी और

अन्त में उन्हें विश्वास हो गया कि बुद्धि के तर्क-वितर्क से हृदय की विश्वासी, रहस्यमय साधना कहीं ऊँची है।

संसार के सभी रहस्यवादी सम्प्रदायों की साधना में बड़ा अन्तर है, परन्तु मूल रूप से तीन स्तर (Stages) हमें सब कहीं मिलेंगे—(१) पूर्वावस्था (Initiation) (२) आत्मा की ऊर्ध्वयात्रा (Ascent) और (३) अन्त में आत्ममुक्ति (Self-loss) साधना की पूर्वावस्था में साधक को अपने सामने बड़ी-बड़ी बाधाएँ, भयंकर अवरोध दिखलाई पड़ते हैं—कृच्छ्र काय-तप, अहम्, दैन्य, स्वयं अपनी निम्नगामी प्रवृत्तियाँ। उसके मन में उसके ही अपने वासना के प्रेत उठकर उसे घूर-घूर कर डसते रहते हैं। उसे अपने भीतर की भयंकर अग्नि-परीक्षा के बीच से गुज़रना पड़ता है। इस अग्नि-परीक्षा में सफल रहने पर वह ऊपर उठने लगता है। कभी प्रकाश और कभी अन्धकार के बीच में होता हुआ वह निरन्तर आगे बढ़ता है। कभी-कभी उसे अपने सामने कोई अद्भुत ज्योति, कोई अद्भुत प्रकाश दिखलाई पड़ता है। फिर भयंकर गर्त, गहन अन्धकार। आशा और निराशा के झूलों में उसे वर्षों झूलना पड़ता है। उस समय उसकी साधना के विषय हैं उससे पूर्ववर्ती तपी महानुभावों के अनुभव। उसकी रहस्यवादी साधना में पुराने सन्तों और रहस्यदर्शियों के अनुभव अत्यन्त सहायक होते हैं। वही उसे बल देते हैं। उसका अंतिम लक्ष्य यही होता है कि धरती के बंधनों से मुक्त हो जाये, सीमा के पार अनंत, असीम की बीन वह सुन सके। जाति-धर्म-वर्ग, देश-काल और देह-मन के बंधनों से ऊपर उठकर अपने व्यक्तित्व को एक विराट सार्वभौम प्रेममयी सत्ता का अंग अनुभव करना और इस अनुभव में अतींद्रिय आनन्द की उपलब्धि सब देशों, सब धर्मों और सब कालों के रहस्यवादियों की साधना रही है।

'रहस्यवाद' क्या है!—एक शब्द में इतना भरा है कि उसकी

ठीक-ठीक परिभाषा देना असंभव है। परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं। यूनानी दार्शनिक सुदास (Suidas) ने कहा है कि रहस्यवाद का पर्यायवची यूनानी भाषा का शब्द 'my' रूढ़ि से बना है जिसका अर्थ है 'बंद करना' या चुप हो जाना। प्राचीन यूनानी रहस्यवादी का अर्थ वे विचित्र और रहस्यमयी कर्मकांडी विधियाँ लगाते थे। जिनके सम्बन्ध में साधक का मौन रहना आवश्यक था। धीरे-धीरे 'रहस्यवाद' के अर्थ का विस्तार हुआ। कुछ विशेष प्राणियों को ही जिसकी कुंजी मालूम है, ऐसे अनुभव, ज्ञान और साहित्य को 'रहस्यवाद' का नाम दिया गया। वह गुह्य ज्ञान हो गया। आधुनिक रहस्यवाद में भी साधारण ज्ञान को कुछ विशिष्ट शब्दों के द्वारा प्रगट किया जाता है। साधारण कोषों द्वारा उसकी कुंजी नहीं प्राप्त होती। इस प्रकार यह निश्चित है कि बहुत प्राचीन काल से यह ज्ञान गुह्य रहा है। धीरे-धीरे 'रहस्यवाद' शब्द का कर्मकांड और पुरोहितों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वह कर्मकांड, बलि और वाह्याचारों का विरोधी हो गया। आभ्यांतरिक साधना और उस साधना के फलस्वरूप प्राप्त आत्मानुभव के लिए myst या mystic शब्द का प्रयोग होने लगा।

सुदास ने स्पष्ट कहा है कि यह रहस्यमय आत्मज्ञान उसी समय प्राप्त होता है जब साधक इन्द्रियों के वहिरागम को रोक दे। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान हम करते हैं, यह स्थूल रहता है। उससे हम वस्तुओं के वाह्य रूपों से ही परिचित होते हैं, उसकी आत्मा को हम नहीं छू सकते। आत्मानुभूति के लिए मनुष्य को कछुए की भाँति वाह्यजगत से अपना संबंध हटा लेना पड़ता है। उसे आत्मशुद्धि और तपस् के द्वारा अपनी आत्मा को तैयार करना पड़ता है कि वह ऊपर की ज्योति प्राप्त कर सके। उसे परोक्ष से सीधा संबन्ध स्थापित करना पड़ता है। नव-अफ़लातूनी (Neo-platonist) दार्शनिकों का कहना है कि आत्म-साधना की अंतिम अवस्था में आत्मा स्वयं अपने विराट

रूप को प्रकाशित करती है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही रहस्यवादी अन्तर्मुख रहा है। यूनानी दार्शनिक प्लाटिनस और प्राक्लस स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो व्यक्ति (साधक) संसार के प्रति मृत हो जाता है, जिसकी आत्मा अपने ही भीतर सिकुड़ जाती है, वही आत्मतत्व की प्राप्ति कर सकता है। उसे ही आत्मदर्शन का अनुभव होता है। यह 'आँखें बंद करके देखना' जैसा हुआ। एक अन्य यूनानी दार्शनिक डायनोसस (Dionysius) ने आत्मदर्शी रहस्यवादी की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"Then is he delivered from all seeing and being seen, and passes into the truly mystical darkness of ignorance where he excludes all intellectual apprehension, and abides in the utterly inpalpable and invisible; being wholly His who is above all, with no other dependence, either on himself or any other; and is made one, as to his nobler part, with the utterly unknown; by the cessations of all knowing; and at the same time, in that very knowing nothing; he knows what transcends the mind of man."

—De Mystices Theologia : Cap. I, p 710.

(तब उसे कुछ भी देखना-सुनना नहीं रह जाता। वह अज्ञान के रहस्यमय अंधकार में प्रवेश करता है जहाँ बौद्धिक विषमताओं का अन्त हो जाता है। तब वह एक नितांत अदृश्य और अनिर्वचनीय एवं अगम्य सत्ता में निवास करता है। तब वह उसी सत्ता का हो जाता है। अन्य कोई उसका आश्रय नहीं रहता। तब उसके ज्ञान का बाध हो जाता है और वह अन्ततः उस अज्ञात महान सत्ता का एक अभिन्न अङ्ग बन जाता है। परन्तु इसी अज्ञान की अवस्था में हमको इतना आत्मानुभव हो जाता कि उसके लिए जानने योग्य कुछ भी नहीं रहता। वह वहाँ पहुँचता है जहाँ साधारणतः मनुष्य का मन नहीं पहुँच सकता।)

एक अन्य दार्शनिक ने रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए कहा है—

"Mystic theology is not perception or discourse, not a movement of mind, not an operation, nothing that any other power we may posses may bring to us; but if, in absolute immoblity of mind we are illumined concerning it, we shall know that it is beyond everything recognisable by the mind of man."

—Dion. Opp. Vol. 1, p. 722.

(रहस्यवाद न अनुभव है, न प्रवचन, न मन की कोई क्रिया, न कोई कर्मकांड। हमारी कोई भी इंद्रिय, कोई भी शक्ति इस रहस्यवाद की प्राप्ति में हमारी सहायता नहीं कर सकती। जब मन एकांततः निष्क्रिय हो जाता है तो उसे एक परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। तब उसे जो अनुभव होता हो वह उन अनुभवों से भिन्न होते हैं जो मनुष्य-मन को गम्य हैं।) प्लाटिनस ने स्पष्ट कहा है कि रहस्यवादी अपने भीतर दैवी पूर्णता की अनुभूति करता है और इस आनंदावस्था में व्यक्तित्व, स्मृति, काल, देश, प्राकृतिक विरोधों और बौद्धिक विषमताओं का लोप हो जाता है। जब तक यह आत्मदर्शन और आनंद की स्थिति बनी रहती है, तब तक साधक उसके संबन्ध में कुछ नहीं कह सकता। जब वह अपनी पहली अवस्था में लौट आता है, तब भी अपने अनुभव को भाषा में व्यक्त करना उसके लिए असंभव सा रहता है। जो वह कहता है, वह केवल उस आनंदस्थिति को आंशिक रूप में ही प्रगट कर सकता है।

रहस्यवाद के संबन्ध में यूनानी दार्शनिकों ने जो कहा है, वह उपनिषद के ऋषियों के अनुभव से बहुत भिन्न नहीं है। उपनिषद के ऋषि स्पष्ट कहते हैं कि आत्मदर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त जो है, वह अविद्या है। अन्धः तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते (ई० ७) 'अविद्या की जो उपासना करते हैं वे अंधकार में प्रवेश करते हैं।"

आत्मदर्शन ही प्रकाश है, परन्तु इसके लिए प्रवचन और अध्ययन-अध्यायन की आवश्यकता नहीं है—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन (क० १-२-२२) सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान, ब्रह्मचर्य से ही इस आत्मदर्शन की उपलब्धि होती है। तब साधक अपने शरीर के भीतर ही शुभ ज्योति के दर्शन करता है—सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयाहि शुभ्रो यं पश्यंति यतयः क्षीण-दोषः (मुंडक० ३-१-५)। इस आत्मदर्शन की उपलब्धि का ज्ञान ही वेदांत है। यह गुह्य ज्ञान है। इसे न पिता पुत्र को दे सकता है, न गुरु शिष्य को। जिसपर उस (आत्मा) की पुष्टि होती है जिसे वह प्रकाशित होना चाहती है, उसी का यह आत्मदर्शन होता है—वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकाले प्रचोदितम्। ना प्रशान्ताय दातव्यं ना पुत्रा या शिष्याय वा पुनः। यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ; प्रकाशन्ते महात्मनः (श्वे० ६-२२-२३)। वास्तव में स्वयं साधक को अपनी साधना के विषय में जागरूक होना पड़ता है। ऋषि कहते हैं—इस रहस्यमार्ग पर चलना छुरे की धार पर चलने के समान है—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति (कठ० १-३-१४)।

उपनिषद के आत्मज्ञान में हम अनृ+आर्यकाल से चली आती योगधारा का प्रभाव भी पाते हैं। श्वेताश्वेतर में योग के सिद्धांतों का विशद विवेचन है। यहाँ योग मुख्यतः प्राणसंवरोधक है। कठ और मुंडक में भी प्राण को ऊर्ध्व करके विश्वदेव (ब्रह्म) का ध्यान करने को कहा गया है। इन्द्रियाँ, हृदय, मन अथवा कल्पना से उसे नहीं पाया जा सकता—न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं हृदा मनीषा मनसाभिकॢप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति (कठ० २-६-९) । योगियों की भाँति

उपनिषद् के आत्मदर्शी भी उस परमसत्ता का दर्शन नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, खद्योत अथवा प्रकाशवान तितलियों के रूप में करते हैं—नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योत विद्युत्स्फटिक शशिनाम् एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे (श्वेत० २-११) कहीं वह स्वर्ग पर अंकित श्वेतबिंदु के रूप में सामने आता है— हिरण्यमय परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यात्मविदो विदुः (मुं० २-२-९)। उपनिषदकार ब्रह्म की पुष्टि में विश्वास करते हैं—यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् (मुं० ३-२-३)। स्पष्ट है कि परमात्मा (ब्रह्म) के अंतिम रूप के सम्बन्ध में ऋषि कुछ नहीं कहते। केवल उसकी विरुद्ध धर्माश्रयता को रूपक द्वारा समझा कर वह निश्चिन्त हो जाते हैं—नैषु स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरयादत्ते तेन तेन सरच्यते (श्वेत० ५-१०,) आसीनो दूरं ब्रजति श्यानोयाति सर्वतः। कस्तं यदायदं देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ (कठ० १, २, २१) आधुनिक समय में रहस्यवादी धारा के प्रमुख कवियों ने 'रहस्यवाद' सम्बन्धी अपने विचार प्रगट किये हैं। इन विचारों का अपने स्थान पर बड़ा महत्व है। परन्तु उनसे किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचना कठिन है। पहले हम प्रसादजी को लेंगे। रहस्यवाद की परिभाषा के इस तरह देते हैं : (१) काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है। (२) वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित था। (३) रहस्यवाद सच्चा भी हो सकता है और मिथ्या थी। प्रसाद ने मिथ्या रहस्यवाद का उदाहरण भी दिया है। (४) प्रसाद के अनुसार रहस्यवाद की हमारी अपनी दार्शनिक एवं काव्य-परंपरा है, परंतु यह परंपरा मध्ययुग से आगे नहीं बढ़ती। आधुनिक युग में रहस्यवाद को पश्चिम की वस्तु माना गया है। आलोचकों ने कहा—रहस्यवाद का मूल उद्गम

सेमेटिक धर्म-भावना है और इसीलिए वह भारत से बाहर की वस्तु है। प्रसाद ने 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में इसके विपरीत मत की स्थापना की है। उनका कहना है कि "रहस्यवाद (अनहलकवाद) सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध है एवं ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत भावना से प्रभावित थे। प्रसाद ने रहस्यवाद के ऐतिहासिक रूप को भी स्पष्ट किया है। उपनिषदों के ऋषियों से आरम्भ होकर सिद्धों और संतों तक आनन्द-रस की साधना की एक धारा चलती रही। उपनिषदों के ऋषियों, आगमवादियों, टीकाकारों, योगियों और सिद्धों ने इस अद्वैत आनन्द को भली भाँति विकसित किया। रामभक्त तुलसी और कृष्णभक्त सूरदास भी इस रहस्यवादी धारा के प्रभाव से बच नहीं सके। परन्तु इनमें आनन्द अमिश्रित नहीं रहा। संतों ने राम की बहुरिया बनाकर प्रेम और विरह की कल्पना कर ली। भागवत के कुछ अध्यायों (वेणुवादन, भ्रमरगीत, वनगमन) से ही इंगित लेकर उसपर नायक-नायिका के मिलन-वियोग का आवरण चढ़ाकर चंडीदास और विद्यापति ने महारास (आत्मा-परमात्मा के मिलन) की वीथिका के लिए वियोग-दुःख का आयोजन किया। इस प्रकार मध्ययुग में शुद्ध आनन्दवाद के सुर दब गये। "किन्तु सिद्धों की रहस्य संप्रदाय की परम्परा में तुकनगिरि और रसालगिरि आदि की शुद्ध रहस्यवादी कवि लावनी में आनन्द और अद्वयता की धारा बहाते रहे।" आधुनिक रहस्यवाद के सम्बन्ध में उनका मत है—"वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।"

डा० रामकुमार वर्मा ने इस सम्बन्ध में और भी गहराई से विचार किया है—"रहस्यवाद आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमें विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। × × अद्वैतवाद और रहस्यवाद में कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद में मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बनकर आत्मा में जागृत रहता है। जब एक जलविंदु अनन्त जलराशि में मिलकर अपना व्यक्तित्व खो देता है, तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। यह भावना अद्वैतवाद की है। लेकिन रहस्य-वाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की भावना रहते हुए भी यह सूक्ष्म जागृति रहती है कि 'मैं मिल रहा हूँ।' 'व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति ही रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में 'दो पक्षियों' का रूपक देकर आत्मा और ब्रह्म की अलग-अलग सत्ता निरूपित की गई है।" ब्रह्म और जीवन की आनन्दमय स्थिति पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"रहस्यवाद में ब्रह्म की महान् अनुभूति में भी व्यक्तित्व की भावना सुरक्षित रखता है। रहस्यवाद से यह भी निश्चित हो जाता है कि ब्रह्म की शक्ति अपरिमित होकर साधक की शक्ति से उच्चतर है। वह अंतर्व्यापी होते हुए भी सर्वोपरि है। अंतर्व्यापी इस रूप में कि वह 'संसार' के कण-कण में वर्तमान है। कणों में व्याप्त इसी ब्रह्म को साधक खोज कर पहचान लेता है। और सर्वोपरि इस रूह में कि साधक के द्वारा हृदयंगम हो जाने पर भी ब्रह्म की सत्ता श्रेष्ठतर रहती है। जिस प्रकार बहुरंगी पक्षी जल में सौ बार डूब कर भी अपने पंखों का रंग नहीं खोता, उसी भाँति सर्वोपरि ब्रह्म संसार में अनेक बार प्रवेश कर भी अपनी उच्चता सुरक्षित रखता है।" अन्य स्थानों पर भी उन्होंने रहस्यवाद की विवेचना की है और उसके कुछ सामान्य तत्त्व स्थापित किये हैं—

(१) आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता

(२) अपनी संकल्पात्मक इस आध्यात्मिक अनुभूति में ऐक्य की भावना हो, एकीकरण की नहीं जिससे आत्मा के व्यक्तित्व का विनाश न हो।

(३) आत्मसमर्पण की भावना। दाम्पत्य प्रेम के अनुरूप हो इसमें साधक का संपूर्ण व्यक्तित्व अनुराग से ओतप्रोत हो उठे।

(४) रहस्यवाद की कविता में दुःख का भी प्रकाशन है परंतु उसकी परिणिति ऐक्य की आनन्दानुभूति में ही मिलेगी। इस प्रकार यह निश्चित है कि वे रहस्यवाद की अनुभूति को मूलतः आध्यात्मिक मानते हैं—परन्तु आजकल की रहस्यवादी कविता मूलतः आध्यात्मिक है, यह कहना कठिन है।

प्राचीन रहस्यवाद और आधुनिक रहस्यवाद की तुलना महादेवी वर्मा ने 'सांध्यगीत' की भूमिका में इस प्रकार की है—"रहस्यवाद... विशेष प्राचीन नहीं। प्राचीन काल के दर्शन में इसका अंकुर मिलता अवश्य है, परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहाँ! वेदान्त के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि आत्मा की लौकिकी तथा पारलौकिकी सत्ता-विषयक मत-मतांतर मस्तिष्क से अधिक संबंध रखते हैं, हृदय से नहीं, क्योंकि वही तो शुद्ध बुद्ध चेतन के विकारों को लपेट रखने का एकमात्र साधन है। योग का रहस्यवाद इंद्रियों को पूर्णतः वश में करके आत्मा का कुछ विशेष साधनाओं और अभ्यासों के द्वारा इतना ऊपर उठ जाना है जहाँ वह शुद्ध चेतन से एकाकार हो जाता है। सूफ़ी-मत के रहस्यवाद में अवश्य ही प्रेम-जनित आत्मानुभूति और चिरन्तर प्रियतम का विरह समाविष्ट है, परन्तु साधनाओं और अभ्यासों में वह भी योग के समकक्ष रखा जा सकता है और हमारे यहाँ कबीर का रहस्यवाद यौगिक क्रियाओं से मुक्त होने के कारण योग, परन्तु आत्मा और परमात्मा के प्रेम-सम्बन्ध के कारण वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुँचे हुए प्रणय-निवेदन से

भिन्न नहीं । आज गीत में हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सब से भिन्न है । उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को आलंबन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका ।"

'दीपशिखा' में उन्होंने नये रहस्यवाद की और भी विवेचना की है । साधारणतः हमारी 'अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत में ऐसा व्यापक, अखंड और संवेदनात्मक धरातल है जिसपर सारी विविधताएँ ठहर जाती हैं । इस अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्म-समर्पण ही आधुनिक रहस्यवादी काव्य है । "अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय हो हृदय का प्रेम हो जाता है । इस प्रकार रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अतः उससे सत और चित् की एकता में आनन्द सहज संभव रहेगा ।" "रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है जिसमें हृदय की सीमा एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है । और हृदय अनेक रागात्मक संबन्धों में माधुर्यभाव मूलक प्रेम ही उस सामञ्जस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों में सजीवता भर सके और आत्म-निवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके । भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति संभव है जो इष्ट नहीं, इष्ट का अनुग्रह-दान कहा जा सकता है । माधुर्यभाव-मूलक प्रेम में आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक

उपास्य नहीं। इसी से तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान संभव नहीं, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रहस्यवाद' के संबंध में साधक, कवि और आलोचक एकमत नहीं हैं। प्रत्येक धर्म के साथ रहस्य-वादी साधना की एक धारा लगी हुई है। इसमें जो कुछ कहा गया है, वह प्रतीकों, पारिभाषिक शब्दों और कर्मकांडों के गोरखधंधे में छिप गया है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि रहस्यवाद की भावना संघगत नहीं, व्यक्तिगत है। साधक एक विराट, अखंड, निर्लेप परन्तु प्रेममयी सत्ता की कल्पना करता है और स्वयं अपने व्यक्तित्व को उसका अंश मानता है। इस अंशानुभूति को वह केवल बुद्धि (ज्ञान) से ही नहीं पकड़ना पाता, वह उसे हृदय की सारी शक्ति के साथ ग्रहण करना पाता है। इसी से वह उस अखंड सत्ता के प्रति प्रेम, मिलन और वियोग के गीत गाता है। वह अपने पूर्व अखंडित संबंध की बात सोचता है। ऋग्वेद की एक ऋचा है— क्व त्यानि नौ संख्या बभूव स चावहे यदवृकं पुराचित् (हे वरणीय स्वामी, हम दोनों का वह पूर्व का अविच्छिन्न संबंध कहाँ गया जिसे मैं व्यर्थ खोजता हूँ)। यही भाव रहस्यवादी साधक का होता है चाहे वह किसी धर्म को आदर्श मान कर चल रहा हो। एक अन्य ऋचा है—उत स्वया तन्वा संवदेतत्कदान्वन्त वरुणं भुवामि (कब मैं अपने इस शरीर से उसकी स्तुति करूँगा, उसके साथ साक्षात् संवाद करूँगा और कब मैं उस कारण योग्य के हृदय के भीतर एक हो सकूँगा।) रहस्यवादी साहित्य में यही विचार विरह-भावना के सुन्दर गीतों के रूप में सहस्रों बार प्रकाशित हुआ है।

२

हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद : भूमिका

भारतीय ईश्वर-चिंतन और तत्संबंधी साधना की एक प्रमुख धारा 'रहस्यवाद' रही है। हमारे प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में ईश्वर, जीव, प्रकृति एवं दृष्ट और अदृष्ट सत्ताओं के सम्बन्ध में अनेक रहस्यमूलक बातें कही गई हैं। ऋग्वेद के नासिदेय सूत्र और पुरुष-बलि की कथा में आदि रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। उपनिषदों में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती हैं। इनमें से अधिकांश अज्ञात चिद्-शक्ति के रूप-गुण के सम्बन्ध में कही गई हैं।

> वृहच्च तद्दिव्यय चिन्त्य रूप,
> सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
> दूरात्दूरे तदिहान्तिके च
> पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥"
> (मुण्डकोपनिषद्)

यही ईश्वर-जीव-सम्बन्धी रहस्यवादी चिंतन हमारे रहस्यवादी साहित्य का प्रधान अंग है। इस चिंतन का एक स्वरूप वह है जो हमें उपनिषदों में मिलता है, दूसरा वह जो भागवत आदि रूपक-प्रधान धर्म-ग्रन्थों में। एक में ज्ञान का आश्रय लिया गया है, दूसरे में ज्ञान को पीछे छोड़कर प्रेम को ग्रहण किया गया है। हमारे हिन्दी साहित्य में दोनों प्रकार के रहस्यवादी उद्‌गार मिलेंगे।

हिन्दी के रहस्यवादी साहित्य को हम अर्वाचीन और प्राचीन दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन उपयुक्त भी है

क्योंकि प्राचीन काल का रहस्यवाद आधुनिक काल के रहस्यवाद से अनेक बातों में भिन्न भी है।

प्राचीन काल में हमें उपनिषदों की रहस्यवाद की धारा हिन्दी के सिद्ध-साहित्य में पहली बार मिलती है और नाथ-साहित्य में होकर निर्गुण और निरंजन सम्प्रदायों में प्रवाहित होती हैं। इस साहित्य के सबसे महत्वपूर्ण कवि कबीर और दादू हैं। इसका बीज-सिद्धांत अद्वैतवाद है। रहस्यवादी सांत और अनंत के अद्भुत संबंध पर चकित है। वह दोनों के आकर्षण का अनुभव करता है। जीव और ईश्वर वास्तव में अभिन्न हैं। माया के कारण भेद जान पड़ता है। इस भेद की बात जान लेने पर यह भेद स्वतः मिट जाता है। ईश्वर जीव हो जाता है, जीव ईश्वर। कबीर कहते हैं—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तथ कथौ गियानो

(कबीर)

इसे रहस्यवादी यों भी कहते हैं—नदी समुद्र में जा मिली अथवा समुद्र नदी में जा मिला। संतों ने दूसरी बात को उलटबासियों में प्रकाशित किया है।

सूफ़ियों का रहस्यवाद संतों के रहस्यवाद से कुछ भिन्न है। वह भागवत के प्रेम-मूलक रहस्यवाद जैसा है। उसका आरंभ वहाँ होता है जहाँ जीव और ईश्वर-विषयक गवेषणा का अंत हो जाता है और वह सम्बन्ध मस्तिष्क से नीचे उतर कर हृदय की वस्तु हो जाता है। उस समय जीव-ईश्वर के सम्बन्ध में एक मधुर भावना की सृष्टि होती है। इस भावना में परस्पर का आकर्षण और तीव्र मिलनाकांक्षा है। इस आकर्षण को स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के रूपक द्वारा उपस्थित किया गया है। संतों के रहस्यवाद में भी इस रूपक को स्थान मिला है। कबीर अपने को राम की बहुरिया कहते हैं—

हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया
राम बड़े मैं छुटुक लहुरिया

अथवा

वे दिन कब आवेंगे माइ
जा कारन हम देह धरी है मिलिबौ अंग लगाइ

भागवत में इसी को असंख्य गोपियों के रूपक द्वारा वेद-व्यास ने प्रकाशित किया है। सूफ़ियों का ढंग दूसरा है। बात वही है। हमारे यहाँ स्त्री पुरुष के प्राप्त करने को सचेष्ट है। परन्तु सेमेटिक (सामी) भाषाओं के साहित्य में प्रेम-निवेदन में और प्रेमपात्र की प्राप्ति की चेष्टा में पुरुष स्त्री से अधिक आकुल दिखलाई पड़ता। इसी पर सूफ़ी कवियों ने भारतीय लोक-कथाओं को लेकर रूपकमय कथानक (पद्मावती, इंद्रावती आदि) खड़े किये हैं। सूफ़ी काव्य में रहस्योन्मुख सौन्दर्य और प्रेम को लेकर स्थान-स्थान पर बड़ी मार्मिक व्यंजना उपस्थित की गई है। 'पद्मावती' के सौन्दर्य को जायसी इस रूप में देखते हैं—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर
हँसन जो देखा हंस भा दसनजोति नग-हीर

उसे सारा संसार ही किसी अज्ञात प्रेमपात्र का विरह में व्याकुल जान पड़ता है—

उन बानन्ह अस को जो न मारा
बेधि रहा सगरौ संसारा
गगन नखत जो जाहि ने गने
वै सब बान ओहि के पने

प्रेमात्मक रहस्यवाद-काव्य में सूफियों का साहित्य बेजोड़ है।

हिन्दी के सगुण भक्त-काव्य में रहस्याद को स्थान नहीं मिला है यहाँ तक कि कृष्ण-काव्य में उतनी रहस्यात्मकता भी नहीं जितनी

भागवत में है। सूरदास के काव्य में कुछ स्थल (जैसे रास, राधा के कृष्ण के हृदय में अपनी छाया देखकर मान करना, कृष्ण का बहु-नायकत्व आदि) ऐसे अवसर हैं जहाँ प्रतीक के रूप में वही बात कही गई है जो रहस्य-काव्य का मूल है, परन्तु उसमें अनुभूति की वह गहराई नहीं है। सच तो यह है कि सगुणोपासक भक्तों को इष्ट सत्ता के सामने रहस्य-सत्ता का भरोसा क्यों होता ? परन्तु भक्तों के काव्य में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ वे अपनी भावोच्चता और अनुभूति की सच्चाई के कारण रहस्य-प्रधान हो गये हैं जैसे सूरदास की हंस-चकई वाली अन्योक्तियाँ—

चकई री चल चरन सरोवर जहाँ न मिलन बिछोह

तुलसी की चातक-प्रेम की अनुभूति रहस्यवादी कवियों की विरहानुभूति की तीव्रता तक पहुँच गई है।

सत्रहवीं शताब्दी में रहस्यवाद की धारा क्षीण हो गई। जिस धर्म-प्राणता पर उसका आधार था वह लौकिकता की चोट से चूर-चूर हो रही थी। साहित्य की चिन्ता लोकोन्मुख हो गई। कवि नारी को केन्द्र बना कर दीपशलभ की भाँति उसके चारों ओर घूमने लगे। अठारहवीं शताब्दी का साहित्य पूर्ण रूप से लौकिक रहा। अध्यात्म के छींटें ही शेष रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी में हमारा परिचय अंग्रेजी साहित्य से हुआ परंतु उसका प्रभाव श्रीधर पाठक के काव्य को छोड़कर और अधिक नहीं पड़ा। बीसवीं शताब्दी के पहले दशाब्द के बाद अंग्रेज़ी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक काव्य के अनुकरण होने लगे। उस काव्य के रहस्यवाद की ओर भी कवियों का ध्यान गया। परन्तु वह उस प्रकार की कविता लिखने का प्रयास नहीं करते थे। इसी समय कवीन्द्र रवीन्द्र की गीतांजलि प्रकाशित हुई थी। इस पर कबीर, वैष्णव-भक्ति, पश्चिमी साहित्य और उपनिषदों का प्रभाव था। यह रचना पूर्व और पश्चिम में सम्मानित हुई। हिन्दी के कवियों ने भी रवीन्द्र

की शैली को पकड़ा और इस प्रकार अर्वाचीन काल में रहस्यवादी कविता का सूत्रपात हुआ।

प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यवाद काव्य में महान् अन्तर है। प्राचीन काव्य के मूल में धार्मिक अनुभूति और साधना थी। स्वयम् कवि के लिए उस काव्य का मूल्य इतना ही था कि वह उसके द्वारा कम-अधिक अपनी रहस्यानुभूति को प्रकाश में लाता था। उसके अपने प्रतीक थे। इनमें बहुत-से किसी न किसी भाँति जनसमाज से परिचय-प्राप्त हैं। फलतः यह रहस्यवाद अत्यंत ऊँचे आध्यात्मिक धरातल पर उठा हुआ होता भी साधारण पाठक के लिए अगम्य नहीं था। अर्वाचीन रहस्यवाद काव्य का आधार अधिकतः कल्पना है। उसके पीछे धार्मिक अनुभूति तो है ही नहीं, जहाँ है वहाँ अधिक गहरी नहीं है। वह साधना का न फल है, न उसका विषय ही। उसे हम काव्य शैली-मात्र भी कह सकते हैं। उसके प्रतीक भी नये हैं और भारतीय रहस्यवाद की परम्परा से मेल नहीं खाते। इसी कारण आधुनिक रहस्यवाद काव्य को पाठक नहीं मिल सके। जहाँ भाषा की अप्रौढ़ता और छंदों की नवीनता भी इसके साथ सम्मिलित हो गई, वहाँ वह एकदम कूटकाव्य होकर रह गया। इस प्रकार के कूटों को "छाया-वाद" नाम दे दिया गया है।

आधुनिक रहस्यवादी काव्य के साथ "रहस्यवाद" शब्द की परिभाषा भी विस्तार पाती है। उसमें प्रकृति, सौन्दर्य, प्रेम (विरह और मिलन) को भी रहस्यानुभूत माना गया, केवल इंन्द्रियानुभूत नहीं। वास्तव में धार्मिक रहस्यवाद इस धर्महीन युग की विशेषता नहीं हो सकता था। भिन्न-भिन्न रहस्यवादी कवियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के कारण भी रहस्यवाद काव्य में शैली के अन्तर हो गये, परन्तु ये अन्तर अधिक नहीं हैं। हमें यह भी न समझना चाहिये कि हिन्दी रहस्यवादी कवि किसी भी काल में बाहरी प्रभावों से अछूता रहा है। वास्तव में वह कई स्थलों पर अन्य प्रवृत्तियों से इतना मिला

चलता है कि उसे उनसे अलग कर स्वतंत्र रूप देना असंभव है। भारतीय चिन्तन-धाराएँ सब कुछ समेट कर चलती हैं। रहस्यवाद भी धर्म को समेट कर चला। आधुनिक रहस्यवाद भी वैष्णव भक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ है यद्यपि उसपर अंग्रेज़ी की रोमांटिक काव्य-धारा का प्रभाव ही प्रधानतयः लक्षित है। रोमांस काव्य की मूल विशेषता है करुणा। आधुनिक रहस्यवाद को करुणा से भी प्रेरणा मिली है। आधुनिक रहस्यवाद के विषय हैं मिलनानन्द, प्रतीक्षा, वियोग, विराट और सूक्ष्म (अनन्त और सांत) का सम्बन्ध, प्रकृति में विराट अज्ञात शक्ति की कल्पना करुणा के प्रति मोहमय आकर्षण, वेदना की व्यापक-रहस्यमय अनुभूति। आज का रहस्यवाद कल्पना-प्रधान है, अनुभूति-प्रधान नहीं। कवि ने उसे अपनी गहनतम सहानुभूति नहीं दी है। उसका कवि के जीवन से अनन्यत: सम्बन्ध नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद हिन्दी कविता की एक मूल प्रवृत्ति रहा है और पिछले एक हज़ार वर्षों के साहित्य में उसका प्रमुख स्थान है। रीतिकाव्य और वर्तमान काल की कुछ सामाजिक और साहित्यिक धाराओं को छोड़कर इस सारे साहित्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ चलती पाते हैं। सिद्धों, नाथों और संतों के साहित्य में जहाँ अनेक अन्य प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ रहस्यवाद की प्रवृत्ति भी मुख्य रूप से है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन धार्मिक काल में सबसे आकर्षक वस्तु उसका रहस्यवादी अंश ही है। उसमें परोक्ष सत्ता की व्यक्तिगत अनुभूति को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। सिद्धों, नाथों और सन्तों के धार्मिक रहस्यवाद में मूल दृष्टिकोण की अभिन्नता है, यद्यपि प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी-अपनी परिभाषाएँ हैं और अपने-अपने प्रतीक हैं। प्रत्येक संप्रदाय ने अपनी साधना को "सहज" कहा है, यद्यपि हठयोग की साधना को भी थोड़ा-बहुत स्थान मिल गया है। लक्ष्यप्राप्ति के सुख को तीनों ने एक ही प्रकार के प्रेम-मिलन के प्रतीक से स्पष्ट किया है। सरहपा कहते हैं—

त्रिधातु-खाटे पडल शबरो महासुख सेज छाइल
शावर भुजंग निरात्मा दारी पेखत राति विताइल
चित्त तांबूला महासुख कपूर खाई
शून्य-नैरातमा कंठे लेई महासुखे राति विताई

गोरखनाथ भी कहते हैं—

मांहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी, जोगनि संग न छाडै
मानसरोवर मनसा झूलती आवै, गगनमण्डल मठ मांडैरे ।। टेक

(हमारा तो वैरागी जोगी अर्थात् मन रात-दिन भोग में निरत रहता है। वह जोगी कभी भी जोगिन का साथ नहीं छोड़ता। मानसरोवर अर्थात् मन में मनसा झूलती आती है और गगनमंडल में मढ़ी बना लेती है।) कबीर भी इसी सुर में मिलन-वियोग के गीत गाते दिखलाई पड़ते हैं—

१—तनु रैनी मनु पुनरपि करिहउ पांचउ तत्त बराती
राम राउ सिउ भावरि लैहउ आतम तिउ रंग राती
गाउ गाउ री दुलहनी मंगलचारा
मेरे ग्रिह आए राजा राम भतारा

२—पंथु निहारै कामनी लोचन भरी ले उसासा
उर न भीजै पगु न घिसै हरि दरसन की आसा
उडहु न कागा कारे
बेगि मिलीजै अपनु राम पिआरे
कहि कबीर जीवन पद कारनि हरि की भगती करीजै
एकु आधारु नाम नाराइन रसना रामु र वीजै

तीनों धाराओं में इस प्रकार का भावसाम्य आकस्मिक बात नहीं है। सूफ़ी कवियित्री राबिया और वैष्णव भक्त कवियित्री अंडाल को लो या मीरां को, या दादू जैसे सन्त कवि को, सब ने स्त्री-पुरुष के रूपक

के रूप में ही जीव-ब्रह्म के अन्यतम सम्बन्ध को स्पष्ट किया। उनके गीत आज भी हमारे हृदय में रहस्यमय मिलन-वियोग की सच्ची सन्वेदना उत्पन्न करते हैं। सभी रहस्यवादी धाराओं में आत्मसंयम और आचार-विचार की शुद्धता पर बल मिलता है। सूफ़ी सम्प्रदाय को छोड़कर सभी भारतीय रहस्यवादी धाराओं की साधना एकांतिक है। भक्तकाल तक आते-आते इन निर्गुण रहस्यवादी धाराओं में मादन-भाव का इतना समावेश हो गया है कि इन धाराओं और भक्तिधारा में विशेष अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता। स्वयं भक्तों के इष्ट-देव साकार होते हुए भी निर्गुण ब्रह्म से कम रहस्यमय नहीं है। 'सूरसागर' की भूमिका में सूरदास स्पष्ट रूप से लिखते हैं—

> अविगत गति कछु कहत न आवै
> ज्यौं गूँगै मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै
> परम स्वाद सबहीं सु निरंतर अमित तोष उपजावै
> मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै
> रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन धावै
> सब विधि अगम विचारहि तातैं सूर सगुन पद गावै

इस प्रकार मध्ययुग में एक ऐसी सामान्य रहस्यभूमि की स्थापना हो गई जो निर्गुण सन्तों और सगुण भक्तों को सामान्य रूप से मान्य थी। दादू और मीरां की रहस्य-साधना में आज कोई भी अन्तर दिखाई नहीं पड़ता। कोई अन्तर है भी नहीं। आधुनिक युग की रहस्यवादी धारा कई शताब्दियों के व्यवधान के बाद हमारे सामने आती है और निश्चय रूप से उसका रूप धार्मिक नहीं है। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी को हम किसी भी प्रकार सन्त या भक्त नहीं कह सकते। फिर इनके रहस्यवादी काव्य की क्या व्याख्या हो? इस काव्य के पीछे न सन्त की साधना का बल है, न भक्त की प्रणय-विह्लता का। इसका आधार भी बहुत कुछ मानसिक

एवं बौद्धिक है। उपनिषद् का तत्त्वज्ञान, रवीन्द्र की रहस्यमय गीति-काएँ, अंग्रेज़ी रहस्यवादी कवियों की भावात्मक उक्तियाँ और कबीर का काव्य आधुनिक युग के रहस्यवाद की मांस-मज्जा का निर्माण करता है। आज की रहस्यवादी कविता की प्रेरणा मूलतः कल्पनात्मक है, साधना का बल उसके पीछे नहीं है। उसके प्रतीक भी नये हैं। यही कारण है कि प्राचीन रहस्यवादी परंपरा से वह एकदम अलग चीज़ जान पड़ती है।

३

सिद्ध-साहित्य में रहस्यवाद

हिन्दी काव्य में रहस्यवाद का उन्मेष पहली बार सिद्ध कवियों में मिलता है। वैसे तो रहस्यवाद-संबन्धी साहित्य लगभग सभी सिद्ध कवियों में मिलेगा, परन्तु सबसे महत्वपूर्ण कवि हैं सरहपा (७६० ई०), शबरपा (७८० ई०), भुसुकपा (८०० ई०), लुईपा (८३० ई०), विरूपा (८३० ई०), डोम्बिपा (८४० ई०), दारिकपा (८४० ई०), गुंडरीपा (८४० ई०), कुक्कुरीपा (८४० ई०), कमरिपा (८४० ई०), कण्हपा, (८४० ई०) टेंटणपा (८५० ई०), महीपा (८७० ई०), भादेपा (८७० ई०), धामपा (८७० ई०), तिलोपा (६५० ई०) और शांतिपा (१००० ई०)। इस प्रकार हम रहस्यवाद की इस धारा को ७५० ई० से १००० ई० तक अविच्छिन्न रूप से चलता पाते हैं। इन ढाई सौ वर्षों में रहस्यवाद-संबन्धी प्रचुर साहित्य इन सिद्धों ने उपस्थित किया और 'रहस्यवाद' के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए यह साहित्य महत्त्वपूर्ण है।

जिस अनिर्वचनीय आनन्द में साधक की मुक्ति है, उसे सरहपा ने धम्म-महासुह (धर्ममहासुख) और सहजामिअ (सहजामृत) कहा है। उनका कहना है कि यह सहजामृत सारे संसार को आप्लावित किये है, यह गूँगे का गुड़ है। जो इसे जान जाता है, वह निर्द्वन्द हो जाता है। साधना की चरम सीमा यही है कि साधक इस महान सुख में इस तरह प्रविष्ट हो जाय जैसे नमक पानी में घुल-मिल जाता है। इस 'महासुह' (महासुख) की प्राप्ति के लिए सरहपा 'सहज मार्ग' का आयोजन करते हैं। वे कहते हैं—

मंत्र न तंत्र न ध्येय न धारण। सर्वहु मूढ़ रे ! विभ्रम कारण
(मंत्र-तंत्र, ध्यान-धारणा, ये सब भ्रम उपजाते हैं) इसके लिए तो अपने आपको जानना होता है। सरहपा कहते हैं—

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, वेण्ण वि कूप पड़ेइ
[जब लौं आप न जानिये, तब लौं सिख न करेइ
अन्धा काढ़े अंध तिमि, दोउहिँ कूप पड़ेइ]

रहस्यवाद की सारी धाराओं में गुरु का महत्त्व तो है परन्तु विशेष बल शिष्य की अन्तर्साधना पर ही दिया गया है। फिर भी गुरु की आवश्यकता तो है ही। इसी से सरहपा का कथन है—

काअ नावड़ि खान्टि मण केडुआल। सद्गुरु वअणे धर पतवाल
चीअ थिर करि धरहु रे नाई। अण्ड उपाए पार न जाई
[काम नावडी नीकी मन केडुवाल। सद्गुरु बचने धरु पतवार
चित्तैं थिर करु धरु रे नाई। अन्य उपाये पार न जाई]

(यह काया ही नाव है, मन पतवार है। गुरु के वचन से शिष्य हाथ में पतवार लेता है। चित्त स्थिर होने पर ही नाव का संचालन संभव है। अन्य किसी उपाय से पार जाना संभव नहीं) इस काया को तीर्थ मानकर कवि अद्वैत-भाव की साधना का क्षेत्र इसी को बताता है—

एहिँ सो सुरसरि जमुना, एहिं सो गङ्गासागर
एहि प्रयाग वाराणसी, एहिँ सो चंद्र-दिवाकर
क्षेत्र-पीठ-उपपीठ, एहीँ मैं भ्रमउँ वाहिरा
देहा सदृशा तीर्थ, नहीं मैं अन्यहिं देखा
वन - पद्मिनि - दल - कमल - गंध - केसर-वर-नाले
छाडहु द्वै तहि न काहु शोषण, मूढ़ न लागहु आरे

योगियों ने इस काया-क्षेत्र को और भी अधिक महत्त्व दिया। परन्तु जान पड़ता है, सरहपा हठयोग की कठिन साधना को उपादेय नहीं

मानते हैं। इसी से उन्होंने 'नाद, विंदु, रविशशिमण्डल' इत्यादि की भर्त्सना करके चित्त की सहज भाव की साधना को अधिक श्रेय दिया है। हठयोग को वे 'वंक' (वाम) मार्ग कहते हैं, उनके लिए 'सहज साधना' ऋजु मार्ग है—

नाद न विंदु न रविशशिमंडल। चित्ता राग समावे मुक्खल
ऋजु रे ऋजु छाडि ना लेहु वंक। नियरे बोधि त जाहु रे लंक
हाथेहू कंकण ना लेहु दर्पण। अपने आप बूझहु निज मन
पारे बारे बारे सो' इ मादई। दुर्जन-संगे अवसर जाई
वाम दहिन जो खाल-विखाला। सरह भनै बाँप! ऋजु बाटें भइला

([उस रहस्यवादी अनुभव में] न नाद जान पड़ता है, न विन्दु, न रवि-शशि-मण्डल चित्त राग से मुक्त हो जाता है। यही सीधा मार्ग है। इसे ही पकड़ो। दूर लंका जाने की कोई आवश्यकता नहीं। पास देह के भीतर ही इसका अनुभव सम्भव है। हाथ के दर्पण की भी आवश्यकता इसमें नहीं, इतना स्वंसंवेद्य यह अनुभव है। अपने मन में ही उसकी प्रतिच्छवि पड़ती है। इस आत्मदर्शन के सीधे मार्ग से पार जाना होता है। अन्य मार्ग साधकों के मार्ग नहीं। इनसे व्यर्थ का समय नष्ट होता है। सरह कहते हैं, सीधे मार्ग से चलो, बायें-दाहने जाने में भय है।) रहस्यवादी गूढ़ चिंतन में उलझना नहीं चाहता। वह तो सारे तत्व को पकड़ लेता है। यह सहज मार्ग सारतत्व ही है। जन्म-मरण जैसे प्रश्नों पर वह विचार ही नहीं करता—

अपने रचि-रचि भव निर्वाणा। मिथ्यै लोक बँधावै अपना
मैं ना जानहुँ अचिन्त योगी। जन्म मरण भव कैसन होई
जैसो जन्म मरणहु तैसो। जीवन मरणे नाहिँ विशेषो
जो यह जन्म-मरण वी शंका। सो कर स्वर्ण रसायन कांछा
सो सचराचर त्रिदिश भ्रमन्ति। ते अजरामर किमि ना होन्ति
जन्महिं कर्म कि कर्महिं जन्म। सरह भनै अचिंत सो धर्म

(अपने मन में ही अनेक प्रकार के भावों अर्थात् संसारों का बंधन गढ़ता है । लोक मिथ्या में बँध गया है । हे योगी, जब उस अज्ञात की बात ही अचिन्त्य है, तो जन्म-मरण कैसा, संसार कैसा ? जैसा जन्म, वैसा मरण । दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं । जिन्हें इनके अभेदत्व में विश्वास ही नहीं, वह 'रसायन' सीख कर स्वर्ण की आकांक्षा करते हैं । वे तीनों दिशाओं में घूमते रहते हैं । वे अजर-अमर कैसे हो सकते हैं । जन्म से कर्मों के बंध बनते हैं, या कर्मों से जन्म होता है, सरह के लिए यह अचिन्त्य है) सिद्धों ने जहाँ गूढ़ दर्शनवाद को अनुपयोगी बताया, पाखंडों का खंडन किया, वहाँ उन्होंने आसक्ति और त्याग के बीच का एक मार्ग भी खोज निकाला । "जो योगी विषय रस का रमण तो करता है, परन्तु उसमें लिप्त नहीं होता, जैसे पद्मपत्र पानी में भीगता नहीं, ऐसा योगी ही मूल को समझता है । जिसकी आँखें निर्निमेष (ध्यानयुक्त) हैं, चित्त निरोध में और मन पवन (प्राणायाम) में स्थित है, उसका काल क्या करेगा ? जिसने आवागमन (जन्म-मरण) के चक्र को खंडित नहीं किया, जो यह नहीं जानता कि बुद्ध का निवास देह में है, वह निर्लज्ज है यदि अपने को पंडित कहता है—

विषय रमन्त न विषय विलिंपै । पदुम हरय ना पानी भीजै
ऐसेहि योगी मूल बुझन्तो । विषय बहै न विषय रमन्तो
अनिमिष लोचन चित्त निरोधे । पवन निरोधै श्री-गुरु-बोधे
पवन बहै सो निश्चल जवबै । योनी काल करै कि रे तब्बे
पंडित सकल शास्त्र वक्खानै । देहहिं बुद्ध बसंत न जानै
अवना-गमन न तेहिं विखंडित । तोपि निलज्ज भनै हौं पंडित

सरहपा की अनेक युक्तियाँ निर्गुण सन्तों की युक्तियों से मेल खाती हैं । उनका 'शून्य' ही सन्तों का 'सुन्न महल' है आदर्श साधक है वह जो—

विषय विशुद्धे ना रमै, केवल शून्य चरेइ
उड़िया वोहित-काक-जिमि पलटिश्र तहँहि पड़ेइ

इस 'शून्य' में अवस्थित होकर मन जिस स्थिति को प्राप्त होता है, उसका वर्णन सरहपा ने यों किया है—

जहँवाँ चित्ता विस्फुरै, तहँवै नाहि स्वरूप
अन्य तरंग कि अन्य जल, भव-सम ख-सम स्वरूप

जल और तरंग जिस तरह एक तत्त्व है, सृष्टि और आकाश-तत्त्व जिस प्रकार अभिन्न हैं, उस समय साधक का मन और 'बुद्ध', 'शून्य' अथवा परोक्षसत्ता की यही अभिन्न दशा होती है। यही हिंदू दार्शनिकों की "अद्वैतस्थिति" है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि सिद्धों की साधना रहस्यमूलक अद्वैत भाव की साधना थी। बुद्ध, शून्य, या ब्रह्म या कबीर के 'राम' में नाम-भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। अद्वैतस्थिति में पहुँच कर साधक की जो अनिर्वचनीय सौख्य दशा होती है, उसका वर्णन सब जगह एक ही प्रकार का है। सन्तों की तरह सिद्ध भी मध्यमार्ग की योजना करते हैं—

कमल-कुलिश दोउ मवय चित, जो सो सुरत विलास
को तेहिँ रमै न त्रिभुवने, कासु न पूरै आस

इसमें केवल रूपक रूप में साधना में मध्य-मार्ग का वर्णन है। जन-साधारण में जो यह धारणा फैली है कि सिद्धों ने वामाचार को प्रश्रय दिया, वह इसी तरह के रूपकों के कारण है। वैसे उनके काव्य में संयम और मर्यादा का उतना ही ध्यान है जितना गोरखपंथियों के काव्य में। कम से कम सरहपा के संबंध में हम यह कह सकते हैं। हो सकता है, कालांतर में सिद्ध आचारभ्रष्ट हो गये हों और गोरख ने नय। पंथ चला कर, उसे शैव-रूप देकर फिर आचार की स्थापना की हो। इससे अधिक इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

शवरपा (८८० ई०) में हम रहस्यवाद का पूरा-पूरा उन्मेष पाते हैं। एक चर्यापद में उसने स्वयं अपनी मनःस्थिति का चित्रण किया है—

ऊँचा ऊँचा पर्वत, तहँ बसै शवरी बाली
मोर-पिच्छ पहिरले शवरी ग्रीवा गुंजा-माली
उन्मत शवरो पागल शवरो न करु गुली-गुहाड़ा
तो'हार निज घरनी नामे सहज-सुन्दरी
नाना तरुवर मौरिल रे गगन ते लागल डारी
एकली शवरी यहि बन हीड़ै कर्ण कुंडल बज्रधारी
त्रिधातु-खाटे पड़ल शवरो यहाँ सुखे सेज छाइल
शवर भुजंग निरात्मा दारी पेखत राति बिताइल
चित्त तांबूला महासुख कपूर खाई
शून्य नैरात्मा कंठा लेई महासुखे राति बिताई
गुरु - वाक - पुंज धनुष निज-मन बाणे
एक शर संधाने बिंधहु परम निर्वाणे
उन्मत शवरा गुरुआ रोषे गिरिवर शिखरे साँधी
पइठत शवरहिं लौटाइब कैसे

(ऊँचा-ऊँचा पर्वत है। वहाँ सिद्ध शवरी का वास है। वह मोर-पुच्छ धारण करता है, गले में गुंजा-माला। हे उन्मत्त शवरी, पागल शवरी, शोर न करे। 'सहज' नाम की सुन्दरो तेरी गृहिणी है। अनेक तरुवर हैं, शून्य गगन में उनकी डालें हैं। इस भयंकर शून्यावन में कर्ण, कुण्डल और वज्र धारण कर शवरी हुङ्कार भरता घूमता है। त्रिधातु-खाट पर महासुख की सेज बिछा कर शवरी विश्राम करता है। कामातुर शवरी अनात्म रूपी अपनी प्रेयसी को देखता हुआ रात बिता देता है। चित्त रूपी तांबूल है, महासुख का कपूर उसने खाया है। शून्य अनात्म को कंठ लगा कर उसने रात बिताई। गुरु की वाणी धनुष है, अपना मन संधान अर्थात् लक्ष्य है। एक शर से ही परम

निर्वाण को बाँधा जा सकता है। गुरु उन्मत्त शवरी को रोकता है, परंतु उसने तो गिरिशृङ्ग को लक्ष्य ही बना लिया है, अब वह कैसे रुके। स्वयं निरात्म उसे खैंच रहा है।) भूसुकपा (शांतिदेव, ८०० ई०) ने पहली बार रहस्यानुभव के प्रकाशन के लिये 'कूट' का प्रयोग किया। वस्तुतः ये कूट रूपक ही हैं, परन्तु प्रतीकों के न जानने के कारण इनमें अस्पष्टता और क्लिष्टता आ गई है। अद्वैत मन की स्थिति में आवागमन छूट जाता है और अक्षत अमृत भांडार की प्राप्ति मन को होती है। परन्तु 'पवन' (श्वास-प्रश्वास; सांसारिकता) इस अद्वैत स्थिति को नष्ट कर देता है। इसलिए साधक को इससे सतर्क रहना होगा। पवन को चूहे का रूप देकर इसी तथ्य की स्थापना भसुक करते हैं—

निशि अँधियारी मूसा करै संचारा। अमृत भक्ष्य मूसा करै अहारा
मास दे जोगिया मूसा पवना। जासे दूरै अवना-गवना
भव विदारै मूसा खनै गाती। चंचल मूसा खाइ नाशै थाती
काला मूसा रोम न बर्ण। गगने उठि करै अमियपान
तब्बे मूसा अंचल-चंचल। सद्गुरु-बोधे काहु सो निश्चल
जब्बे मूस-सँचारा टूटै। 'भूसुक' भनै तब्बै बंधन छूटै

बाद को तो इस प्रकार के 'कूटों' या संध्या-भाषा में लिखे गीतों की एक परंपरा ही चल पड़ी। लुईपा कहते हैं—

काया तरुवर पांचाउ डाल
चंचल चित्ते पइठा काल
दृढ़ि करि महासुक्ख परिमान
लुई भनै गुरु पूछिय जान

(काया-रूपी तरुवर है। पाँचों इंद्रियाँ इस काया-वृक्ष की डाले हैं। परन्तु इस तरुवर पर चंचल चित्त के रूप में काल घात लगाये बैठा है। इस चित्त की चंचलता को दूर कर महासुख की प्राप्ति संभव है।

गुरु से इस अध्यात्म ज्ञान के विषय में लुईपा वादविवाद करता है)
डोम्बिपा (८४० ई०) नाव का रूपक बाँध कर इसी साधक की
ऋजुगामिता की बात कहते हैं—

गंगा-यमुना माँझे चलै नाई। तहँ बूडल मातंगी
पुतिया लीले पार करेइ
ले चल डोम्बी ले चल डोम्बी-बाट सोझारा
सद्गुरु-पाद-प्रसादे जायेब पुनि जिन पूरा
पाँच केडुआल पड़त माँगे में पीठसे कच्छी बंधी
गगन - दुखोलेहिँ सींचँहु पानी न पइठै संधी
चंद्र सूर्य दुइ चक्का सृष्टि संहार-पुलिन्दा
वाम-दहिन दो'उ मार्ग न दीसइ (नाव) चलाव स्वछंद
कौड़ी न लेइ बौड़ी न लेइ छूछै पारकरेइ
जो ऐहिँ चढि चलावन न जानै कूलहिँ कूल बुडेइ

(इला और पिङ्गला के बीच में साधक की मन की नाव चलती है। जहाँ बड़े बड़े हाथी डूब गये, वहाँ छोटी सी चूहिया लीला में पार चली जाती है। पाँच कर्णधार या इंद्रियाँ पीठ में कच्छी बाँध कर सतर्कता से यह नाव चलाते हैं। संधि-मार्ग से जो तृष्णा रूपी जल इस नाव में आ रहा है, उसे उलीच दो। सद्गुरु के प्रसाद से यह नाव पार जायेगी। चंद्र-सूर्य इसके दो चक्र हैं, सृष्टि और संहार पतवार। बायें-दायें कुछ न देखो, स्वच्छंद रूप से ऋजुपथ पर नाव चलाओ। कुछ न देकर ही पार जाता है। जो इसे चलाना नहीं जानता वह तट पर ही डूब जाता है।) दारिकपा (८४० ई०) के एक पद से वज्रयानी रहस्यवाद की कुछ मूल प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है—

शून्य करुणा अभिन्न काय - वाक् - चित्ते
विलसै दारिक गगन तेँ पारिम कूले
अलख लखै चित्त महा सुखे
विलसै दारिक गगन तैँ पारिम कूले

की तोर मंत्रे की तोर तंत्रे की तोर बखाने
आप पईठा महासुख लीले दुर्लख परम-निवाणे
दुःख-सुख एक मकरी मत्तै इन्द्रजाली।
स्व-परापर न चीन्है दारिक सकल अनुत्तर मानी

मनसा वचसा कर्मसा करुणा और शून्य का अहर्निशि विलास साधक को प्रज्ञापारमिता अथवा बुद्ध तक ले जाता है। यह प्रज्ञापारमिता या बुद्ध साकार नहीं हैं। साधक के भीतर ही इनकी अवस्थिति है। वे 'अलख' (निर्गुण) हैं। इसी अलक्ष्य या निर्गुण की साधना में साधक अपने चित्त में महासुख की प्राप्ति करता है। जब साधक इस 'महासुख' की प्राप्ति कर लेता है, तो परम निर्वाण को भी उसे चाह नहीं रहती। वह एकदम साधक निरापेक्ष हो जाता है। तंत्र-मंत्र, धारणा-ध्यान सब उसके लिए अनुपादेय रहते हैं। गुंडरिपा (८४० ई०) इस सिद्धि-स्थिति को 'जोगिनी' कह कर उसके लिए बिलखते हैं—

तेमड़ा चाँपि जोगिन दे अँकवारी। कमल-कुलिश घोंटि करहु बियाली
जोगिनी तोहि बिनु क्षणहुँ न जीयौं। तव मुख चूमि कमलरस पीयौ

(जोगिनी को हृदय से लगा कर अँकवारी देना चाहता हूँ। न सहज साधन चाहिये, न कठोर-कृच्छ्र तप। हे जोगिनी, मैं एक क्षण भी तेरे बिना नहीं रह सकता। मैं भ्रमरवत् तेरे कमलवत् मुख का रस-पान करना चाहता हूँ।) यह 'कमल-कुलिश' का संकेत साधना की सहजावस्था की ओर है। सहज-मार्ग के संबंध में कहपा (८४० ई०) कहते हैं—

निस्तरंग सम सहज रूप, सकल कलुष-विरहिए
पाप-पुण्य-रहित किछु नाहि, काण्हे फुर कहिये
बाहर निकालिय शून्याशून्य प्रविष्ट
शून्याशून्य दोउ मध्ये, मूढ़ा! किछुअ न दृष्ट

सहज एक पर अहै तहँ फुर काण्ह पटि-जानै
शास्त्रागम बहु पढ़ै सुनै मूढ़! किछुअ न जानै
अधौ न जाइ ऊर्ध्व न जाइ। द्वैतरहित तासु निश्चल ठाइ
भनै काण्ह मन कैसहु न फूटै। निश्चल पवन घरनो-घरे बाटै

× × ×

सहजे निश्चल जेहिँ किय, सम-रस निज-मन राग
सिद्धा सो पुनि ततक्खणे, न जरामरणहँ भाग

(सहज-रूप तरंगरहित है, वहाँ ज़रा भी कलुष नहीं है। कण्हपा कहता है—पाप-पुण्य रहित कुछ भी नहीं है। तू शून्य में प्रवेश करना चाहता है, परन्तु शून्याशून्य के बीच में जो 'सहज'-मार्ग है, उसे तू नहीं देखता। इस सहज शून्य की साधना को कण्हपा ही जानता है। हे मूढ़, शास्त्रागम के पढ़ने इस संबंध में क्या जाना जा सकता है। न ऊर्ध्व जाना है, न अधःगमन है। द्वैतरहित उस साधक की स्थिति है। तब मन निश्चल होकर अपने को ही देखने लगता है। जिसने अपना मन सहज-समरस किया है, वह सिद्ध है, उसे जन्म-मरण की बाधा नहीं।) वास्तव में शंकराद्वैत की अनेक मान्यताएँ सिद्धों के काव्य में मिल जाती हैं। बौद्धों का 'निर्वाण' ही अद्वैतवादियों का 'ब्रह्म' बन गया है। कण्हपा कहते हैं—

निश्चल निर्विकल्प निर्विकार
उदय - अस्तयन-रहित सु-सार
ऐसो सो निर्वाण भनिज्जै
जहँ मन-मानस कछुअ न किज्जै

[वह निश्चल है, निर्विकल्प है, निर्विकार है; उदय-अस्त उसे नहीं। जो ऐसा है, उसे ही निर्वाण कहा जा सकता है। वहाँ तक पहुँच कर मन को कुछ करना नहीं रह जाता, वह निष्क्रिय बन जाता है।] वह रहस्यवादी केलि-भाषा में सर्वोच्च तत्त्वों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

एक न कीजै मंत्र न तंत्र। निज घरनी लेइ केलि करंत
निज घरे घरनी जौन भज्जै। तौ की पंच वर्ण विहरीजै
एहुँ जप-होमे मंडल कर्मे। अनुदिन रहौं काहे धर्मे
तो विनु तरुणि निरन्तर स्नेहे। बोधि कि लब्धै अन्यहिँ देहे

जो किउ निश्चल मन-रतन, निज घरनी लेइ एत्थ
सों ई वज्जरनाथ रे, मैं बोलेउँ परमार्थ
जिमि नोन बिलाय पानियहिँ तिमि घरनी लेइँ चित्त
सम-रस जाये तत्क्षण, यदि पुनि सो सम नित्य

(न तंत्र साधिये, न मंत्र। स्वंसंवेद्य अनुभव या घरणी अर्थात् गृहिणी को लेकर केलि करो। जिसने इस अपनी गृहिणी से संभोग नहीं किया, उसने पंच इंद्रियों के सच्चे आनन्द को कब जाना ? जप-होम-कर्मकांड में दिन-रात लगा रहता है, परन्तु इस तरुणी के प्रेम की व्यथा नहीं जानता, वही 'बोधि' अर्थात् निर्वाणावस्था की प्राप्ति कैसे कर सकता है ? जो अपने मन में निश्चल रूप से इस स्वंसंवेद्य अनुभव में लगाता है, वही सच्चा वज्रनाथ है) परन्तु इससे आगे पढ़कर सिद्ध कवि कण्हपा कपाली-डोम्बि के रूपक में सुरति (चित्त-एकाग्रता) के चित्रण करने लगते हैं तो वह साधारण मनीषा की समझ के बाहर हो जाते हैं। साधारणतः इस तरह के पदों के जो अर्थ होते हैं, वह बहुत कुछ घृणित और आचार-विहीन होते हैं, परन्तु उनके प्रतीकार्थ जान लेने पर इस साधना को जानना सहज हो जाता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उत्तर महायान में तांत्रिकों और कापालिकों की विचित्र साधनाओं का समावेश हो गया था और हाड़ की माला लेकर श्मशान-साधन और योगिनियों के साथ बाम-साधना का प्रचार भी सिद्धों में होने लगा था। इसी से कण्हपा कहते हैं—

नगर-बाहिरे डोम्बी तोहर कुटिका। छुइ छुइ जाइ सो बाभन लड़िका

अरे डोम्बी तोरे साथ करब न संग। निघृ॑ण काण्ह कपाल जोगि-नंग
एकउ पदुम चौंसठ पाँखुरी। तहँ चढ़ि नाचै डोम्बि बापुरी
हे रे डोम्बी! तोहिँ पूँछौं सद्भावे। आवै जाय डोम्बी केकरि नावेँ
तंत्री विकिनै डोम्बी और चंगेरा। तोहर कारण छाडी नल पेरा
तैं रे डोम्बी मैं कपाली। तोहोंर कारण मैं लेलौं हाड कै माली
सखर माँगि डोम्बी खाइ मृणाल। मारहुँ डोम्बि लेई पार

स्वयं कवि अपना वर्णन इस प्रकार करता है—

नाड़ि शक्ति दृढ़ धरिके खाटे। अनहद डमरू बजै वीर नादे
काण्ह कपाली जोगी पइठो आचारे। देह-नगरी विहरै एकाकारे
आली-कांली-घंटा नूपुर चरणे। रवि - शशि - कुंडल किमउ आभरणे
राग - द्वेष - मोहँ लाई छार। परम मोक्ष लिये मुक्ताहार
मारे उसासु-ननद-घरें साली। मातु मारि काण्ह भइल कपाली

(कान्ह कपाली आचार-जोग को ले कर धारण देह-रूपी नगरी में विहार करता है। जब वह अपनी स्वानुभूति को जगा कर उससे विहार करने लगता है, तब अनहद नाद होने लगता है। रवि-शशि को उसने आभूषण बना लिया है। चरणों में नूपुर बाँधे है। राग-द्वेष और मोह को जला कर उनकी भस्म तन में रमाई। सास-ननद-गृहिणी-साली-माता को मार कर अर्थात् सारे सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ कर कण्हपा कपाली बन गया।) कहीं-कहीं तो संत काव्य की छटा स्पष्ट दिखलाई पड़ती है, जैसे कण्हपा के इस गीत में—

मण-तरु-पाँच इन्दि तसु साहा। आसा-बहल पात फल बहा
वर-गुरु-वअणेँ कुठारें छिज्जअ। काण्ह भणइ तरु पुण ण उइजअ

बढ़ इ सो तरू सुभासुभ पाणी। छेवइ विदु-जन गुरु परिमाणी
जो तरु छेवइ भेउ ण जाणइ। सड़ि पड़िआँ मुढ ! न भव माणइ
सुण्णा तरुवर गअण-कुठार। छेवह सो तरु-मूल ण डाल
(मन तरु पाँच इंद्रि तसु साखा। आशा बहुल पत्र-फल-वाहा
वर गुरुवचन कुठारेंहिं छीजै। काण्ह भनै तरु पुनि न उपजै
बढ़े सो तरू शुभाशुभ पानी। छेवै विदुजन गुरु-परिमाणी
जो तरु छेवै भेद न जानै। सड़ पडेड्यो मुढ़ ! न भव मानै
शून्या तरुवर गगन कुठार। छेवै सो तरु-मूल न डार)

सन्तों के कूटों की तरह सिद्धों के कूटगीत भी बराबर चलते रहते जैसे टेंटणपा (८४५ ई०) का यह गीत—

नगर माँझ मोर फर, नाहिं पड़ोसी
 हांडी ते भात नाहीं मिल आवेशी
बेंगेहि साँप ब्रधिल जाय
 कच्छू दूध कि मेंटे समाय
बरध बियाइल गैया बाँझी
 मेंटहि दूहिय तीनों साँझी
जो सो बुद्धि सोइ निबुद्धी
 जो सो चोर सोई साहु
नित्य सियारा सिह से जूझै
 टेंटणपा कै गीति बिरलै बूझै

सन्तों के कूटगीतों के अर्थ लगाने की चेष्टा की गई है, परंतु ऊपर जो गीत दिया है, उसमें श्रोता को चमकृत कर देने की भावना भर है—कुछ विशेष अर्थ नहीं लगता। परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धों का रहस्यावाद धोखा मात्र था। रहस्यावादी साधना को अनधिकारियों से छिपाने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करना होते हैं और कदाचित् कूटगीत इसी प्रकार का एक उपाय था।

साधनापक्ष में इसका अर्थ केवल यही होता है कि रहस्यवादी साधक की अनुभूति असाधारण रहती है।

सिद्ध रहस्यवादी धारा १००० ई० तक बलवती रूप से चलती दिखलाई देती है। उसमें अनेक नई बातों का समावेश हो गया है, परंतु मूल भावनाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। तिलोपा (६६० ई०) और शांतिपा (१००० ई०) की रचनाओं से इस कथन को पुष्टि होती है। तिलोपा तीर्थ-देव-सेवा को व्यर्थ बताते हैं—

तीर्थ तपोवन न करहु सेवा। देह शुची न होवै पापा
ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर-देवा। बोधिसत्त्व ना काहु रे सेवा
देव न पूजहु तीर्थ न जावा। देव पूजतें मोक्ष न पावा
बुद्ध अराधहु अ-विकल चित्ते। भव-निर्वाणे न करहु स्थित्वे

यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव और बोधिसत्व की पूजा का स्पष्ट उल्लेख है। कवि इनसे ऊपर उठकर 'बुद्ध' की आराधना का उपदेश देता है। यह बुद्ध बोधिसत्त्व से बड़े हैं। वे 'निर्गुण', 'राम' या शांकराद्वैत के 'ब्रह्मपर' के साम्यवादी हैं। इन्हें ही तिलोपा ने अन्य स्थान पर 'शून्य-निरंजन' कहा है। जिस प्रकार 'ब्रह्मास्मि' कहता हुआ वेदांती जीव-ब्रह्म की अद्वैत-स्थिति का अनुभव करता था, उसी प्रकार तिलोपा कहते हैं—

हौं जग हौं बुद्ध हौं निरंजन। हौं अ-मनसिकार भवभंजन
मन भगवान् ख-सम भगवती। दिवारात्रि सरजे रहई

× × ×

हौं शून्य जग शून्य त्रिभुवन शून्य
निर्मल-सहजे न पाप न पुण्य

जान पड़ता है सिद्ध-साधना ने अपने समय की जैन और शैव धाराओं को मुख्य रूप से प्रभावित किया और १००० ई० के बाद यह प्रभाव इतना बढ़ गया कि इन मतों में नये संप्रदाय ही स्थापित

हो गये। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' में जोइंदु (योगीन्दु, १००० ई०) और रामसिंह (१००० ई०) की रचनाएँ उद्धृत की है। इनका सम्बन्ध राजपूताने से है और इनकी संप्रदायनिष्ठा जैनमत की ओर है। एक प्रकार का समन्वयवाद भी चलता दिखलाई पड़ता है। 'जोइंदु' कहते हैं—

सो सिउसंकरु विण्हु सो, सो रुद्द' वि सो बुद्ध
 सो जिणु ईसुरू बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धु
एवँहि लक्खण-लक्खियउ, जो पर णिक्कुल देउ
 देहँह मज्झहिँ सो बसइ, तासु ण विज्जइ भेउ
(सो शिव-शंकर विष्णु सो, सो रुद्रउ सो बुद्ध
 सो, जिन ईश्वर ब्रह्म सो, अनंत सो सिद्ध
ऐसे लक्षण-लक्षितउ, जो पर निष्कल देव
 देह-मध्य ही सो बसै, तासु नहीं है भेद)

वास्तव में इन कवियों से उस साधना का जन्म होता है जिसे डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने "निरंजन" साधना कहा है। नाथ और निरंजन साधनाओं की रहस्यवादी धाराएँ समानांतर चलती हुई सन्त काव्य तक पहुँच जाती हैं जिसके पहले महत्वपूर्ण कवि कबीर (१३६९ ई०—१५९८ ई०) हैं। ये शेख तक़ी के भी शिष्य रह चुके थे, अतः इनमें सूफ़ी रहस्यवादी भावना और रामानंदी वैष्णव भक्ति का भी योग मिलता है। इस प्रकार हम कबीर को कई रहस्यवादी साधनाओं के चौराहों पर खड़ा पाते हैं।

जो हो, यह निश्चित है कि हिन्दी प्रदेश के पूर्वी भाग में उपनिषदों के समय से रहस्यवाद की एक धारा चली आ रही थी। कालांतर में इस धारा में योग, शाक्त और कापालिक अनेक रहस्यवादी धाराओं का योग हुआ। महायान में इन सब धाराओं की अनेक प्रवृत्तियों का मिश्रण स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इस मिश्रण के फलस्वरूप मंत्रयान और वज्रयान की स्थापना हुई। 'बुद्ध'

बोधिसत्व से ऊपर हो गये। काया (देह) में उनका निवास माना जाने लगा। उन्हें लेकर हठयोग जैसी एक गुह्य साधनापद्धति का निर्माण हुआ। महायान में बोधिसत्त्व और प्रज्ञापारमिता इत्यादि देवी-देवताओं को लेकर जो साकार उपासना चल रही थी। इसके विरुद्ध यह एक प्रकार की विरोधी निर्गुण धारा थी। उसमें हठयोग का प्रभाव तो अवश्य था, परन्तु वह मूल रूप से हठयोग की धारा से भिन्न थी। देहवासी बुद्ध को अपनी (स्वकीय) अनुभूति द्वारा प्राप्त करना इस साधना का ध्येय था। जीव-ब्रह्म की अद्वैतस्थिति की प्राप्ति होने पर 'निर्वाण' या 'महासुख' इस साधना का लक्ष्य था।

बौद्ध रहस्यवादी साधना की अनेक बातें आज बुद्धिगम्य नहीं। उसके प्रतीकों की आज कोई परंपरा शेष नहीं रह गई। उसका साहित्य भी अभी-अभी प्राप्त हुआ है और वह अभी खोजियों का विषय ही बना है। प्रारंभिक सिद्धों का समय ७६० ई० से ८७० ई० तक है। इन सौ वर्षों में हम बौद्ध रहस्यवादी धारा को सब से अधिक उत्कर्ष के रूप में पाते हैं। इसके बाद इस धारा में प्रतिभा का योग विशेष रूप से नहीं हो सका और अंतिम कवियों तिलोपा और शांतिपा तक जाते-जाते इसमें परंपरा का पालन मात्र रह जाता है। इसके बाद हम नाथ और निरंजन धारा के रूप में इस धारा को चलते पाते हैं। निरंजन धारा मुख्यतः जैन साधकों द्वारा राजस्थान में विकसित हुई, परन्तु शैव-नाथ-धारा का प्रभाव देशव्यापी रहा। निरंजन भावधारा बौद्ध रहस्यवादी धारा के अधिक निकट है। नाथधारा पर शैवाद्वैत, हठयोग और उपनिषदों के आत्मज्ञान का अधिक प्रभाव है। परन्तु उपनिषदों का नया रूपांतर हमें विशेष रूप से सन्तधारा में मिलता है। उपनिषदों को रहस्यधारा ने किस दिशा से प्रवेश किया, यह आज के तत्त्वान्वेषक के लिए रहस्य की बात है।

४

नाथ-साहित्य में रहस्यवाद

नाथ-साहित्य में जिस रहस्यवाद का प्रकाशन हुआ है, उसका आधार हठयोग है। नाथपंथ में हठयोग को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। साथ ही उसमें सिद्धों के 'सुन्न' और 'अनहदनाद' का भी महत्व है। 'सुन्न' (शून्य) का महत्व महायान में भी कम नहीं था। वज्रयानियों ने 'सुन्न' को ही विश्व का मूलतत्व माना है। नाथपंथ में भी 'निरंजन', 'अखिल निरंजन', 'अलख निरंजन', 'सुन्न' आदि नामों से उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पतंजलि ने योग की परिभाषा देते हुए लिखा है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। इससे पता चलता है कि पतञ्जलि के समय में योग कर्ममार्ग का साधन माना जाता था। और उसका महत्व इतना हो गया था कि उन्हें उसके लिये एक साधन-पद्धति की योजना करनी पड़ी। भगवान् कृष्ण की भगवत्‌गीता में योग एक स्वतंत्र मार्ग है। यद्यपि गीता में योग को शास्त्रसम्मत कहा गया है तदपि गीता का प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म की स्थापना है। इस प्रकार गीता में कर्मकांड को ही प्रतिपादित किया गया है। उसमें भक्तियोग की भी महत्ता है। परन्तु जिस योग से हमारा सम्बन्ध है वह सन् ई० की दूसरी शताब्दी के लगभग हठयोग और तंत्राचार के रूप में प्रकाशित हुआ।

हठयोग मूलतः देहशुद्धि की क्रिया थी, अतः हम उसे राजयोग की भूमिका कह सकते हैं जो योगी का उद्देश्य था। हठयोग में देहशुद्धि की छः क्रियायें थीं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) त्राटक, (५) नोलि, (६) कपालभीति। इन क्रियाओं को षट्कर्म भी

कहते हैं। इनके अतिरिक्त देह की दृढ़ता के लिये आसन और मुद्राएँ और शारीरिक धीरता के लिए प्रत्याहार। देहशुद्धि के बाद प्राणायाम द्वारा लघुता प्राप्त करके मन को स्थिर किया जाता था। ध्यान और समाधि योग की अन्तिम क्रियायें थीं जिनका फल क्रमशः आत्मप्रत्यक्ष और निर्लेपता थी। परन्तु साधक का उद्देश्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसका उद्देश्य कुंडलिनी को जागृत और ऊर्ध्वमुख (उद्‌बुद्ध) करना है। योग-साधकों ने दृश्यमान जगत के दो भाग किये हैं— सम्पूर्ण सृष्टि (समष्टि) और व्यक्ति (व्यष्टि)। उनके अनुसार व्यष्टि समष्टि का ही लघु रूपक है। इसे यों भी कहते हैं कि पिंड में अंड है अथवा घट में ब्रह्मांड है। इन साधकों ने कहा कि सम्पूर्ण सृष्टि में एक शक्ति परिव्याप्त है। इसे उन्होंने महाकुण्डलिनी कहा। यही शक्ति सीमित रूप में व्यक्ति में भी व्यक्त हुई है। इसका नाम कुण्ड-लिनी है। वास्तव में दोनों शक्तियों में प्रकार का भेद नहीं, मात्रा का भेद है।

सभी जीवों में दो शक्तियाँ होती हैं कुण्डलिनी शक्ति और प्राणशक्ति। साधारण अवस्थाओं (जागृति, सुषुप्ति और स्वप्न) में मनुष्य प्राणशक्ति से परिचालित होता हुआ जीवित रहता है। प्राण इड़ा (इंगला) और पिंगला नाम की दो नाड़ियों में होकर बारी-बारी चलता है। इसी पर जीवन संभव है। परन्तु साधना में योगी को देह के भीतर अन्य सुप्त शक्तियाँ भी परिचालित करनी होती हैं।

देह की प्रधान शक्ति कुण्डलिनी है। साधारण मनुष्यों में यह सुप्तावस्था में रहती है, परन्तु योगी इसे संचालित करता है, एवं अपनी साधना का यंत्र बनाता है। कुण्डलिनी का निवासस्थान अग्नि-चक्र है। यह त्रिकोण के रूप में होता है। इस त्रिकोण में स्थित स्वयम् लिंग से कुण्डलिनी लिपटी रहती है। यह सर्प की भाँति है। इसके तीन वलय (वृत्त) हैं। साधारण दशा में इसका मुख नीचे रहता है अर्थात् यह अधोमुखी है। अग्निचक्र के ऊपर चार दलों का एक कमल है। इसे

मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर नाभि के पास मणिपुर चक्र है जिसके दस दल हैं। इन दोनो चक्रों के बीच में छः दल वाले कमल के रूप में स्वाधिष्ठान चक्र है। हृदय के पास अनाहद चक्र है जिसमें १२ दल हैं। कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है। इसमें १६ दल हैं। इसके ऊपर भ्रूमध्य में दो दल वाला आज्ञा-चक्र है। ये षट् चक्र हुए। सब से ऊपर मस्तिष्क में शून्य चक्र (सहस्रार) है। इसमें एक सहस्र दल हैं। षट् कमल सुषुम्ना पर अवस्थित हैं। सुषुम्ना के भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भीतर ब्रह्मनाड़ी है। कुण्डलिनी में जब ऊर्ध्वमूल और गतिशील हो जाती है तो ब्रह्मनाड़ी में होकर ऊपर उठती है और सहस्रार तक पहुँचती है। योग में अनेक साधनाएं इसी कुण्डलिनी के जगाने के हेतु हैं। कुण्डलिनी जाग्रत (उद्बुद्ध) होकर जब ऊपर उठती है तो उससे 'स्फोट' उत्पन्न होता है। इसे नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है। प्रकाश का व्यक्त रूप महाविंदु है। यह विंदु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इसे ही पारिभाषिक रूप से सूर्य, चंद्र और अग्नि एवं ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहा गया है।

गोरखनाथ के हठयोग के सिद्धान्त ऊपर दिए हुए सिद्धान्तों से थोड़े भिन्न हैं। उनके अनुसार योग के छः अंग हैं—(१) आसन, (२) प्राण-संवरोध, (३) प्रत्याहार, (४) धारणा, (५) ध्यान, (६) समाधि। असंख्य आसनों में ८४ आसन श्रेष्ठ हैं। उनमें भी दो सिद्धासन और कमलासन श्रेष्ठतम हैं। इन आसनों का उद्देश्य शरीर की शक्तियों का संग्रह और नियमन हैं। इस शरीर में छः चक्र, १६ आधार, ३ लाख नाड़ियाँ, ५ व्योम, ९ द्वार और ४ अधिदेवता हैं। चक्र पद्म के रूप में है। गुदास्थान पर आधार-चक्र नाम का चतुर्दल पद्म है। इसके ऊपर स्वाधिष्ठान नाम का षट्दल पद्म है। दोनों के बीच में योनिस्थान या कामरूप है। नाभि के स्थान पर मणिपुर नाम का दश दल पद्म है। इसी प्रकार हृदय में द्वादश दल

पद्म, कंठ में षोडश दल पद्म, भ्रुवों के मध्य में द्विदल पद्म और शीर्षस्थान पर सहस्रदल पद्म (सहस्रार) हैं । नाड़ियाँ द्विसप्तीहः (७२०००) हैं । इनमें मुख्य ७२ हैं । इनमें भी दस अधिक मुख्य हैं । प्रत्येक नाड़ी एक द्वार से संबंधित है । ये नाड़ियाँ हैं इड़ा, पिङ्गला, हस्तिजिह्वा, पूष, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहुश, शंखिनी, सुषुम्ना और गांधारी । अंतिम दो नाड़ियाँ इस संख्या को १२ बना देती हैं ।

योग का प्रधान सम्बन्ध श्वास से है । वायु दस हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कर्क, देवदत्त और धनञ्जय । इनमें से पहली पाँच अधिक महत्वपूर्ण हैं । ऊपर की पाँच नाड़ियों में भी प्राण और अपान अधिक प्रमुख हैं । इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना प्राण की वाहक हैं । उनके देवता क्रमशः चंद्र, सूर्य और अग्नि हैं । अंतिम पाँच प्रकार की वायु समस्त नाड़ियों के मार्ग से चलती है । प्राण और अपान में परस्पर आकर्षण चलता रहता है । प्राण अपान को खींचता है, अपान प्राण को । जीव प्राण और अपान के वश में है । वह इस आकर्षण के कारण स्थिर होकर बैठ नहीं पाता, इड़ा और पिङ्गला में बराबर उतरता-चढ़ता रहता है । उसे शांति नहीं मिलती । योग-द्वारा प्राण और अपान में संयोग (मेल) स्थापित किया जाता है । जीव निरंतर 'हंस' मंत्र का जाप करता रहता है । 'ह' के साथ जीव प्राण के रूप में बाहर जाता है और 'स' के साथ फिर शरीर में प्रवेश करता है । गायत्री मोक्षदायिनी है और कुण्डलिनी से संभूत रहती है । कुण्डलिनी शक्ति कंठ के ऊपर स्थिर है । इसके ८ चक्र होते हैं (अष्टधा) । यह ब्रह्मद्वार (सुषुम्ना का सिरा) को अपने मुँह से आच्छादित किये सुप्तावस्था में रहती है । बुद्धि (अग्नि) और कुण्डलिनी (प्राण) के योग से मनस् जाग्रत होता है और सुषुम्ना में होकर इस प्रकार ऊपर की ओर खिंचता है, जिस प्रकार

सूची में गुण। अग्नि से योग के कारण कुण्डलिनी या मनस् शक्ति जाग्रत होती है और सूर्य की भाँति सुषुम्ना के ऊपर उठती है।

मुक्ति-आकांक्षी योगी को महामुद्रा, नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा), उड्डीयान जलंधर, मूलबंध नाम की मुद्राएँ जानना चाहिये। हठयोग का ध्यानमंत्र (बीजम्) ओउम् है। भूः, भुवः, स्वः, लोक और सोम, सूर्य, अग्नि देवता इसी में स्थित हैं। क्रिया, इच्छा, ज्ञान (ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी शक्तियाँ) भी इसी में सन्निहित हैं। यही ओउम् परम ज्योति है। सोम और सूर्य का ध्यान करते हुए योगी को बायें नासिकारंध्र से प्राण को भीतर खींचना चाहिये और दक्षिण नासिका रंध्र से बाहर फेंकना। फिर प्राण को दक्षिण नासिकारंध्र से भीतर खींचना चाहिये और बायें नासिकारंध्र से बाहर फेंकना। इस प्रकार तीन मास तक करने से योगी की नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं जिसका फल यह होता है कि वह प्राण को इच्छानुसार धारण कर सकता है। वायु प्रदीप्त हो जाती है, (अनहद) नाद व्यक्त हो जाता है और शरीर समस्त रोगों से मुक्त होकर आरोग्य को प्राप्त होता है।

परन्तु गोरखनाथ का हठयोग ईश्वरप्राप्ति का एक मात्र साधन नहीं था। वह ईश्वरप्राप्ति में सहायक केवल एक साधन था। जहाँ तक खोज से पता चला है, गोरखनाथ ने भक्ति को अवश्य आश्रय दिया था। कदाचित् वही मुख्य साधन था, अन्य उसके आश्रित थे। कष्टसाध्य हठयोग के आसनों, मुद्राओं आदि का वर्णन करते हुए भी अनेक स्थान पर योग-साहित्य में ऐसे कथन मिलते हैं जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने देह-कष्ट को प्रधानता नहीं दी होगी—

हसिबा खेलिबा गाइबा गीत
दृढ़ करि राखि आपना चीत

(गोरखनाथ)

थोड़ो खाइ तो कलपै झलपै, घणो खाइ तो रोगी
दुहूँ पखा की संधि विचारै ते को बिरला जोगी
(जालंधरनाथ)

चरपट चीर चक्र मन कंथा,
चित्त जमाऊँ करना
ऐसी करनी करो रे अवधू,
ज्यूँ बहुरि न होई मरना
(चरपटनाथ)

जान पड़ता है, नाथपंथी हठयोग को मन की एकाग्रता की उपलब्धि के लिए पहली सीढ़ी मानते थे, परन्तु वे इसी को सब कुछ नहीं समझते थे। उन्होंने योग की निष्फलता के सम्बन्ध में भी कहा है—

आसंण पवन उपद्रव करै
निसदिन आरंभ पचि पचि मरै
(गोरखनाथ)

सच तो यह है कि योगधारा सन्तधारा की तरह ही वाह्य साधनों की ओर से हट कर अन्तःशुद्धि की ओर दृष्टि करती है।

सन्तों की तरह गोरखनाथ भी कहते हैं—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चालिबा
धीरे धीरे धरिबा पांव
गरब न करिबा सहजै रहिबा
भणत गोरखरांव

इस अन्तःशुद्धि में हठयोग जहाँ तक सहायक हो, वहाँ तक संग्रह-योग्य है। इस अन्तःशुद्धि की चरम अवस्था भक्ति की प्राप्ति है।

चरपट ने गोरख के योग को "आत्मयोग" कहा है। कुछ विद्वान इसे "नादानुसंधान" अथवा 'सुरत-शब्द योग' भी कहते हैं। परवर्ती

सन्त-साहित्य में भी योग को सुरत, शब्द आदि से सम्बन्धित पाते हैं। जान पड़ता है कि यह सम्बन्ध पहले-पहले गोरखनाथ द्वारा ही स्थापित हुआ। स्पष्ट है कि इस प्रकार के योग में मन की साधना ही प्रधान है; देह की साधना या हठयोग की आवश्यकता केवल इतनी ही समझी गई है कि उसके द्वारा साधना का माध्यम मन नियंत्रण में रखा जा सके और इन्द्रियाँ संयमित रहें। विश्लेषण करने पर गोरखनाथ का योग उपनिषदों के राजयोग से बहुत दूर नहीं पड़ेगा। उसके साधन के लिए जननेन्द्रिय का दमन अधिक आवश्यक नहीं। जननेन्द्रिय के दमन के लिए भी कष्ट-कृच्छ्र साधनों की अपेक्षा "अजपा-जाप" को ही अधिक श्रेय मिलता है। सिद्धों के योग में तांत्रिक साधनाओं का महत्वपूर्ण स्थान था, परन्तु गोरखपंथियों ने योग में उसे किंचित भी स्थान नहीं दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय साधना क्रमशः अधिक सरल सहज होती आ रही है और इस 'सहजीकरण' की प्रक्रिया में गोरखनाथ और उनके पंथ ने भी योग दिया है। योगियों के काव्य को परवर्ती संतकाव्य से मिलाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि योगधारा धीरे-धीरे निर्गुण संतधारा में विलीन हो गई। यह बात 'गोरखवाणी; 'गोरखबोध' और 'बीजक' के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। कबीर और सन्तों ने जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है (जैसे सतगुरु, निरति, सुरति, सब्द, दुबिधा, अनहद आदि। वे गोरखपंथियों के साहित्य में पहले ही प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। साधारणतः गोरखपन्थ और सन्तमत की नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल भावनाओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। 'गोरखबोध' में मत्स्येन्द्रनाथ का यह कथन—

संतोष आसब बिचार सु। ज्ञान,
काया तजि कर धरिये ध्यान,
गुरु-मुखि अवगति का सुख लहै,
ऐसा बिचार मछंद्र कहै ॥६८॥

सन्तों के पदों में अनेक बार सुनाई पड़ता है। सच तो यह है कि परवर्ती सन्तधारा बहुत बातों में नाथपन्थ की विचारधारा का विकसित रूप ही है।

'गोरखवाणी' के अध्ययन से गोरखनाथ के तत्वज्ञान और रहस्य-वाद के सम्बन्ध में बड़ा प्रकाश पड़ता है। वह जिस 'परमतत्व' को साधना के लक्ष्य के रूप में सामने रखते हैं, वह बौद्धों के शून्य और सन्तों के निर्गुण राम से अधिक भिन्न नहीं है। 'परमतत्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह ऐसा है कि न हम उसे बस्ती कह सकते हैं, और न शून्य। न यह कह सकते हैं कि वह कुछ है और न यह कि वह कुछ नहीं है। वह भाव और अभाव, सत और असत दोनों से परे है। वह आकाश मंडल में बोलने वाला बालक है। उसका नाम ही कैसे धरा जा सकता है।'[1] इस अचिन्त्य परमसत्ता की प्राप्ति के सम्बन्ध में गोरखनाथ कहते हैं—'न देखे हुए (परब्रह्म) को देखना चाहिये। जो आँखों से देखा नहीं जा सकता उसे चित्त में रखना चाहिए! पाताल (मणिपुर चक्र) की गंगा (योगिनी शक्ति, कुंडलिनी) को ब्रह्मांड (ब्रह्मरंध्र, सहस्रार या सहस्रदल कमल) में प्रेरित करना चाहिये। वहीं पहुँच कर (योगी) साक्षात्कार रूप निर्मल रस पीता है।"[2]

बौद्ध रहस्यवादियों की तरह गोरखनाथ भी ब्रह्म को काया में स्थित समझते हैं—'अलक्ष्य परब्रह्म यहीं अर्थात् सहस्रार या ब्रह्मरंध्र (शून्य) में ही है। वहीं गुप्त (अलोप) है। तीनों लोकों की रचना यहीं से हुई है। ब्रह्म का ही व्यक्तरूप यह ब्रह्मांड है)। ब्रह्मांड रूपी

---

१ बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा
मगन-सिषर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा ॥१॥

२ अदेषि देषिवा देषि बिचारिवा अदिसिटि राषिबा चीया
पाताल की गङ्गा ब्रह्मंड चढाइबा, तहाँ विमल बिमल जल पीया

केन्द्र से ही उसने अपना सर्वदिक प्रसार किया है। ऐसा जो अक्षय परब्रह्म सर्वदा हमारे साथ रहता है, उसी के कारण। उसी को प्राप्त करने के लिये अनन्त सिद्ध योगमार्ग में प्रवेश कर योगेश्वर हो जाते हैं।'३

इसी लिए कायागढ़ में ही ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। इसके लिए गोरख ने आत्मसंयम और आत्मसाधन का विधान किया है। "जो अजपा का जाप करता है, ब्रह्मरंध्र (शून्य) में मन को लीन किये रहता है, पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में रखता है, ब्रह्मानुभूति रूप अग्नि में अपने भौतिक अस्तित्व (काया) की आहुति कर डालता है, योगीश्वर महादेव भी उसके चरणों की वन्दना करता है।"४ योगसाधना की अन्तिम अवस्था में साधक रातदिन वहिर्मुख मन को उन्मनावस्था में लीन किये रहता है। इस अवस्था में उसे ब्रह्म के अलौकिक माधुर्य और अपार्थिवक आनन्द का आभास होता है। गोरख-साहित्य में बार-बार इस माधुर्य और आनन्द को जीवित किया गया है। "(ब्रह्म की) सुगंधि से सारा जगत सुगंधित है। (वह जगत में सुगंधि के समान व्याप्त है।) उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उसके लिए संसार के आत्यंतिक दुःख की कटुता मिट जाती है और जगत

---

३ इहाँ ही आछै इहाँ ही अलोप। इहां ही रचिलै तीनि त्रिलोक
आछै संगै रहै जू वा। ता कारणि अनंत सिधा जोगीस्वर हूआ

४ अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचौ इंद्री निग्रह करै
ब्रह्म अगनि मैं होमै काया, तास महादेव बंदै पाया

५ अह-निसि मन लै उनमन रहै
गंम की छांडि अगम की कहै
छाड़ै आसा रहै निरास
कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास

आनन्दमय (मीठा) पो जाता है।'६ इस ब्रह्मानन्द का स्वाद जिसे मिल जाता है, उसमें हलकापन नहीं रहता। "जो भरे हैं, ज्ञानपूर्ण हैं, वे स्थिर गंभीर होते हैं, अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते नहीं फिरते। जो अधकचरे हैं वे छलछलाते रहते हैं, चंचलतावश जगह-बेजगह ज्ञान छाँटते रहते हैं। किन्तु उससे लाभ किसी को नहीं होता)। सिद्ध ऐसे लोगों से नहीं बोलते। हे अवधूत ! जब सिद्ध मिलते हैं तभी उनमें वार्तालाप सम्भव है। उसमें उन्हें लाभ भी होता है। भरा पात्र नहीं छलकता, आधा ही छलकता है।'७

गोरख की साधना-प्रणाली में कायास्थित मन की महान शक्तियों को जगाना आवश्यक है। इसी से मन का इस साधना में महत्वपूर्ण स्थान है। गोरख कहते हैं—यही मन शिव है, यही मन शक्ति है, यही मन पचतत्वों से निर्मित जीव है, मन का अधिष्ठान भी शिवतत्त्व परब्रह्म ही है। माया (शक्ति) के संयोग से ही ब्रह्म मन के रूप में अभिव्यक्त होता है और मन ही से पंचभूतात्मक शरीर को सृष्टि होती है। इसलिए मन का बहुत बड़ा महत्व है। मन को लेकर उन्मनावस्था में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है। वह तीनों लोक की बातें कह सकता है! मन को ब्रह्मानुभूति के लिए तैयार करने के लिए मनःशुद्धि और निग्रह की साधना पहले आती है। इसके लिए प्राणायाम का विधान है। "हे अवधूत, दम (प्राण) को पकड़ना चाहिये, प्राणायाम के द्वारा उसे वश में करना चाहिये। इससे उन्मनावस्था सिद्ध होगी। अनाहत रूपी तूरी बज उठेगी और ब्रह्मरंध्र में बिना सूर्य या चन्द्रमा

---

६ बरस सहेती सब जग बास्था, स्वाद सहेता मीठा
साच कहूँ तौ सतगुर मांनै रूप सहेता दीठा

७ भरया ते थीरं झलझंलति आधा
सिधे सिध मिल्या रे अवधू बोल्या अरुलाधा

के (ब्रह्म) का प्रकाश चमक उठेगा ।[८] इस अनाहद-नाद की साधना और चक्रभेद को गोरख ने विशद रूप से समझाया है। परन्तु वह इन साधनाओं को ही सब कुछ समझ नहीं लेते। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

दसवें द्वारे देइ कपाट। गोरष षोजी औरे बाट

(गोरखनाथ ने दशम द्वार को भी बन्द कर और ही बाट से परब्रह्म की खोज की है)। यह मार्ग है ब्रह्मचर्य और आत्मचिन्तन का मार्ग। ब्रह्मचर्य पर जितना बल गोरखपद्धति में है, उतना कदाचित् किसी साधना में नहीं। गोरखनाथ बार-बार कहते हैं—

चारि पहर आलिंगन निद्रा, संसार जाइ विषया बाही
ऊभी बांह गोरखनाथ पुकारै, मूल न हारौ म्हारा भाई

एक अन्य स्थान पर वह कहते हैं—"बिंदु ही योग है, विंदु ही भोग है, विंदु ही चौसठों रोगों का हरण करता है। इस विन्दु का भेद कोई बिरला ही जानता है। (जो जानता है) वह आप ही ब्रह्मा है, आप ही ब्रह्म।[९] परन्तु केवल विन्दु-साधन से कुछ नहीं होता। 'विन्दु विन्दु बोलते तो सब हैं, किन्तु महाविन्दु (ब्रह्मतत्व) को कोई विरला ही प्राप्त करता है। आध्यात्मिक अनुभूति के बिना जो विन्दु (शुक्र) मात्र के अर्थ बंध-क्रिया का आसरा ग्रहण करता है, उसका शरीर (स्कंध) स्थिर होता नहीं देखा गया है।'[१०] विन्दुसाधन (शुक्र-रक्षा) के साथ ब्रह्मतत्व का ज्ञान (आत्मज्ञान) भी चाहिये।

---

८ अवधू दंमकौं गहिबा उनम निरंहिबा, ज्यूँ बाजवा अनहद तूरं
गगन मंडल मैं तेज चंमैक, चंद नहीं तहां सूरं

९ ब्यंद हीं जोग ब्यंद ही भोग। ब्यंद हीं हरै चौसठि रोग
या बिंद का कोई जांणैं भेव। सो आपैं करता आपैं देव

१० ब्यंद ब्यंद सब कोइ कहै। महाब्यंद कोइ बिरला लहै
इह बंब्यंद भरोसे लावै ध। असथिरि होत न देखो कंध

जान पड़ता है, गोरखनाथ की विचारधारा पर गीता और उपनिषदों की छाप पड़ी है। अनेक प्रसंग स्पष्ट रूप से इन्हीं स्रोतों से लिये गये हैं। उपनिषद् के ऋषियों के स्वर में स्वर मिलाकर गोरख कहते हैं—'परब्रह्म आत्मतत्व से बाहर है, न भीतर; न निकट है, न दूर। ब्रह्म और सूर्य उसे खोजते ही रह गये, उसका रहस्य नहीं पा सके। श्वेत स्फटिक मणि को हीरे ने बेध लिया। आत्मा ने रहस्य का भेदन कर ब्रह्मसाक्षात्कार कर लिया। इसी परमार्थ के लिए गोरखनाथ ने साधना सिद्धि की।[११] इसी प्रकार उनके रहस्यवादी अनुभवों में भी उपनिषद के स्वर गूँजते हैं—'(जहाँ) खूब झरने वाले झरने पर अमृत रस पीने को मिलता है वहाँ जाकर गोरखराव ने चन्द्रमा के बिना प्रकाश देखा अर्थात कारण-रहित स्वतःप्रकाश परब्रह्म का दर्शन किया।[१२] 'गगनमंडल (सहस्रार) में शून्यद्वार (ब्रह्मरंध्र) है। वहाँ घोर अंधकार में बिजली चमकती है। उसी में से नींद आती जाती है और पंचतत्व में समा जाती है।[१३] 'गगन में अनाहद नाद की गर्जना हो रही है।'[१४] उपनिषदों के पाठक इस प्रकार के अनुभवों से भली

---

११ बाहरि न भीतरि नेड़ा न दूर। खोजत रहे ब्रह्म अरु सूर
सेत फटक मनि हीरैं बीधा। इहि परमारथ श्री गोरष सीधा

१२ नीझर झरणैं अमींरस पीवणं षटदल बेध्या जाइ
चंद बिहूंणां चांदिणां तहां देष्या श्री गोरषराइ

१३ गगन मंडल मैं सुंनि द्वार। बिजली चमकै घोर अंधार
ता महि न्यंद्रा आवै जाइ। पंच तत्त में रहै समाइ

१४ ऊभां बैठां सूतां लीजै। कबहूँ चित भंग न कीजै
अनहद सबद गगन मैं गाजै। प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै

भाँति परिचित हैं । इस प्रकार के अनुभव रहस्यवादी अनुभव की कोटि में ही आ सकते हैं ।

वास्तव में गोरखनाथ के योग में कई आध्यात्मिक तत्वों का समन्वय है :

१—हठयोग (चक्रभेद की साधना)
२—अनहदनाद (उपनिषदों की शब्द-साधना)
३—आत्मचिन्तन (उपनिषदों का प्रभाव)
४—'विन्दु' की साधना
५—शैव-साधना
६—बौद्ध-सिद्धों की शून्य (सुन्न) साधना

इस प्रकार हम देखते हैं, गोरखनाथ के रहस्यवाद में अनेक तत्वों का मिश्रण है । 'आदिनाथ' के रूप में शिव का उल्लेख बार-बार मिलता है । मछंदर आदिनाथ के शिष्य कहे गये हैं, गोरखनाथ अपने को मछंदर का शिष्य और आदिनाथ का नाती बताते हैं । इस प्रकार गोरखनाथ ने स्वतः शिव से संबन्ध स्थापित कर लिया है । परन्तु उन्होंने शिवतत्त्व को नई ही व्याख्या की है । उनके लिए शिव बाहर रहने वाले देवता नहीं हैं । वह तो काया के भीतर ही निवास करते हैं—

बदंत गोरष राइ परसि रे केदारं
पाणीं पीओ पूता तृभुवन सारं
ऊँचे ऊँचे परबत विषम के घाट,
तिहाँ गोरखनाथ कै लिया सेवाट

काळी गंगा धौली गंगा झिलमिलि दीसै,
काडरू का पांणी पुनि र गिर पईसै
अरधैं जोगेश्वर उरधैं केदारं,
भोला लोक न जानैं मोष दुवारं

आदिनाथ नाती मछीन्द्र नाथ पूता
काया केदार साधो ले गोरष अवधूता

(गोरखनाथ कहते हैं कि केदार को स्पर्श कर लो। परब्रह्मस्पर्शी हो जाओ। शिवजी के केवल दर्शनों का ही महत्व नहीं है, स्पर्श भी किया जाता है। और ब्रह्मरंध्र में पहुँच कर हे पुत्र! त्रिभुवन में सार-स्वरूप जल अर्थात् अमृत का पान करो। वहाँ बहुत ऊँचे ऊँचे पर्वत हैं और बहुत कठिन घाटियाँ हैं। लेकिन उनको भी गोरखनाथ ने सपाट (मैदान) कर लिया है। काली गंगा अर्थात् यमुना, पिंगला नाड़ी और धौली गङ्गा अर्थात् गंगा, इड़ा नाड़ी दोनों त्रिकुटी स्थान में सुषुम्ना से मिलकर प्रकाशमान रूप धारण कर रही है। गंगोत्री-जमनोत्री का जो पानी कावड़िए वितरित करने के लिए ले गये थे अर्थात् अमृत की जो धारा नीचे गिर कर नष्ट होती रहती है, वह फिर पर्वत में (अर्थात् जहाँ से निकली है, वहीं) प्रविष्ट हो जाती है। जीव का स्थान नीचे है और केदार (शिव, ब्रह्म) का स्थान ऊपर ब्रह्मरंध्र में है। भोले लोग मोक्ष के द्वार को नहीं जानते। परन्तु आदिनाथ के नाती शिष्य और मछंदर के पुत्र—शिष्य—गोरख अवधूत ने काया में स्थित केदार को सिद्ध कर लिया है।) इस प्रकार बाहर के शिवदेवता ही भीतर के ब्रह्म बन गये हैं। काया-तत्व में स्थिर यह परमेश्वर (शिव) सर्वव्यापी अनंत-तत्व से भिन्न नहीं है गोरखनाथ स्पष्ट कहते हैं—

एक मैं अनन्त अनन्त मैं एकै, एकै अनन्त उपाया
अंतरि एक सौं परचा हूवा, तब अनन्त एक मैं समाया

(एक अर्थात् परब्रह्म ही में अनंत सृष्टि का वास है। और अनंत सृष्टि में एक ही परब्रह्म का निवास है। उस एक ही ने इस अनन्त सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब आभ्यन्तर (हृदय) में उस एक से परिचय प्राप्त होजाता है तब सारी सृष्टि एक ही में समा जाती है।)

इस साधक की एकतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) की खोज को गोरखनाथ ने अनेक रूपों में कहा है। कभी वह बनजारा बन कर इस तत्त्व की क्रिय-विक्रय करते हैं—

सुरहट घाट अम्हे वणिजारा, सुंनि हमारा पसारा
लेण न जाणौं देण न जाणौं, एहा वणज हमारा
भणंत गोरषनाथ मछिंद्र का पूता, एहा वणिज न आथी
करणी अपनी पार उतरणां, बचने लेणां साथी

(सुरहट अर्थात् बहुत ऊँचे घाट या स्थान का व्यापारी हूँ। शून्य का मैंने पसारा किया है अर्थात् बेचने की सामग्री शून्य, कुछ नहीं है, दूसरे अर्थ में शून्य परब्रह्म है। मैं न लेना जानता हूँ न देना, ऐसा तो हमारा वाणिज्य है जिसमें लेने-देने की अवश्यकता नहीं पड़ती। मछन्दर का शिष्य कहता है कि एक वाणिज्य का अर्थ यह है कि गुरु के वचनों के सहारे अपनी करनी के द्वारा मुक्ति लाभ करो।) कभी वह कौटुम्बिक रूपक के रूप में परब्रह्म की अनन्तता की बात समझाते हैं—

नाम अस्थान-क मोरा सासू नैं सुसरा,
ब्रह्म अस्थानंक मोरा बासा
इला-प्यंगला जोगण भेंटी सुषमन मिल्या घर बासा

(मेरे सास-ससुर नाभि या मणिपुर चक्र में रहने वाले हैं। मैं ब्रह्मस्थान या ब्रह्मरंध्र का निवासी हूँ अर्थात् स्वयं परमात्मतत्त्व हूँ। इला-पिंगला प्राणायाम के द्वारा मेरी जोगिन (कुंडलिनि) से भेंट हुई और सुषुम्ना में मुझे निवास मिला। नाभि (मणिपूर) में कुल कुंडलिनी शक्ति का निवास माना जाता है। इसी शक्ति (मूल या आदि माया) के द्वारा जीव का निर्माण हुआ है। इसी लिए उसे ब्रह्मा और सावित्री का स्थान मानते हैं। यही सास-ससुर कहे जाते हैं क्योंकि ये स्थूल माया को पैदा करने वाले हैं।)

जिस प्रकार उपनिषदों ने ऋषियों ने ब्रह्म को विरोधी धर्माश्रय बताकर कहा है कि वह चलता ही और नहीं भी चलता, देखता ही और नहीं भी देखता, इत्यादि, उसी तरह गोरखनाथ कहते हैं—

बूझौ पंडित ब्रह्म गियानं, गोरख बोले जाण सुजांनां ॥टेक॥
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा, पानं फूल बिन फलिया
बांझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ॥१॥
गगन बिन चंद्रम, ब्रह्मांड बिन सूरं, झूझ बिन रचिया थानं
ए परमारथ जे नर जांणैं, ता घटि परम गियानं
सुंनि न अस्थूल ल्यंग नहीं पूजा, धुंनि बिन अनहद गाजै
बाड़ी बिन पहुप पहुप बिन साइर, पवन बिन भृंगा छाजै
राहं बिन गिलिया अगनि बिन जलिया, अंबर बिन जलहर भरिया
यहु परमारथ कहौ हो पंडित, रुग जुग स्यांम अथरबन पढ़िया
ससंमवेद सोहं प्रकासं, धरती गगन न आदं
गंग जमुन बिन षेलै गोरष, गुरू मछिंद्र प्रसादं

(हे पंडित, ब्रह्मज्ञान को समझो । सुजान ज्ञानवान गोरखनाथ ब्रह्म ज्ञान कहता है । ज्ञान अर्थात् परब्रह्म की बिना बीज के उत्पत्ति हुई है, वह बिना मूल का वृक्ष है, वह बिना पत्तों और फूलों के फल जाता है अर्थात् प्राकृतिक नियम उसे नहीं बाँधते । वह बंध्या का बालक है अर्थात् अजन्मा है और किसी कारण का कार्य नहीं है । वह बिना आकाश का चंद्रमा है और बिना ब्रह्मांड का सूर्य, बिना मैदान के युद्ध है । इस परमार्थ को जो जानता है उसके शरीर में अर्थात् उसके भीतर परमज्ञान का उदय हो जाता है । वह न शून्य है न स्थूल, न उसके चिन्ह हैं न उसकी पूजा ही है । बिना शब्द के अनाहत-नाद का गर्जन होता है । बिना बाटिका के पुष्प है और बिना पुष्प के सौरभ है और बिना वायु के भृंगों का मंडराता हुआ समूह शोभा दे रहा है । वह राहु के बिना ग्रस लेता है । अग्नि के बिना जला

देता है। आकाश के बिना बादल उमड़ आते हैं। हे ऋग्, यजुः, साम और अथर्वण वेदों को पढ़े हुए पंडितों! इस परमार्थ का वर्णन करो। निरालम्ब ब्रह्मानुभूति किसी कारण का कार्य नहीं है। यहाँ माया के निर्मित जगत के ध्वंस आनंदानुभव की ओर संकेत है जो ब्रह्मानुभूति के द्योतक हैं। यह स्वसंवेद्य स्वयं-प्रकाश सोहंभाव है जो न धरती में है, न आकाश में और न जल में। गुरु मछन्दर के प्रसाद से गोरखनाथ गंगा अर्थात् इड़ा और जमुना अर्थात् पिंगला के बीच सुषुम्ना में खेल रहा है अर्थात् समाधिस्थ होकर आत्मसाक्षात्कार कर रहा है।)

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि शून्य स्वसंवेद्य इत्यादि कितने ही अनुभूतिपरक शब्दों के लिए नाथ बौद्ध साधकों के ऋणी हैं। गोरखनाथ के साहित्य में माया का नाम बार-बार आया है। निःसन्देह यह शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव है। शंकर का ब्रह्मवाद बौद्धों के शून्यवाद से कुछ भी भिन्न नहीं है, इसीसे शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है। शंकराचार्य ने स्वयं शिव और विष्णु की स्तुतियाँ लिखी हैं, इससे स्पष्ट ही वे आत्मवादी हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्धों के निर्वाण और शून्य ने गोरख से पहले ही आत्मवाद का जामा पहन लिया। शिव और विष्णु ही ब्रह्म मान लिये गये। इस प्रकार निर्गुण भाव में प्रेम (भक्ति) की भावना का समावेश हुआ। गोरखनाथ के काव्य में निर्गुण भावना के साधारणीकरण की यह प्रक्रिया स्पष्ट ही दिखलाई देती है। नाथपन्थी शिव के उपासक हैं परन्तु वे निःसन्देह शैवों से भिन्न हैं। वे शक्ति (कुंडलिनी) को मानते हैं, परन्तु वे शाक्त नहीं हैं। उन्होंने शिव-शक्ति को अपने ब्रह्मवाद का प्रतीक ही बना दिया है। बाहर की मूर्तिपूजा व्यक्ति की आभ्यांतरिक साधना बन गई है। इसके कारण ही नाथपंथ में रहस्यवाद का समावेश हुआ है। वास्तव में नाथपंथ में योग, औपनैषदिक ब्रह्मवाद, भक्ति और सिद्धों की

शून्यसाधना का अद्‌भुत समन्वय है। भक्ति की मात्रा उसमें अधिक नहीं परन्तु नामस्मरण और अजपाजाप इत्यादि का महत्व भक्ति की महत्ता को सूचित करता है। शिव-शक्ति के स्थूल प्रतीकों के बाद भक्ति का आना आवश्यक था। सच तो यह है कि ब्रह्मवाद और आत्मवाद का पहला योग नाथपंथों की शैव-भावना में ही हुआ। ६वीं शताब्दी से १३वीं-१४वीं शताब्दी तक समस्त उत्तरी भारत में शैवों-शाक्तों की ही प्रधानता थी और सिद्ध-पीठ (नाथद्वारे) सारे भारत की अध्यात्म-भावना का केन्द्र हो रहे थे। १४वीं शताब्दी में महाराष्ट्र योगियों का केन्द्र बन रहा था। यहीं विठोबा (विष्णु) के मंदिर में योग और भक्ति (वैष्णव भक्तिवाद) का समन्वय हुआ। ज्ञानदेव और नामदेव में यह समन्वय पहले पहल दिखलाई पड़ा। नामदेव का जन्म-समय प्रायः सं० १३२७ (१२८० ई०) है। जोगियों (नाथपंथियों) की शैवाद्वैत भावना को ही हम नामदेव के काव्य में वैष्णव अद्वैत भावना का रूप ग्रहण करता पाते हैं। उनका एक पद इस प्रकार है—

एक अनेक व्यापक पूरक, जित देखौं तित सोई
माया चित्र विचित्र विमोहित, बिरला बूझै कोई
सब गोविंद है सब गोविंद है, गोविंद बिनु नहिं कोई
सूत एक मनि सत्त सहस जस, ओत प्रोत प्रभु सोई
जल तरंग अरु फेन-बुदबुदा, जल ते भिन्न न होई
यह प्रपंच परब्रह्म की लीला, विचरत आन न कोई
मिथ्या भ्रम अरु स्वप्न मनोरथ, सत्य पदारथ जाना
सुकिरत मनसा गुरु उपदेशी, जगत ही मनमाना
कहत नामदेव हरि की रचना, देखो हृदय विचारी
घट-घट अन्तर सर्व निरंतर, केवल एक मुरारी

नामदेव के बाद त्रिलोचन का नाम आता है। उनके बाद रामानन्द (जन्म संवत १२६६) आते हैं। नामदेव ने हरि, गोविन्द, मुरारी इत्यादि कृष्णपरक नाम लिये। विठोबा को बालकृष्ण कहकर प्रचारित

किया गया था, अतः ब्रह्म के रूप में कृष्ण की भावना नामदेव से ही चली। रामानन्द राम के उपासक थे। अतः ब्रह्मराम की भावना के वे प्रवर्तक हुए। 'सैना' ने एक पद में कहा है—'राम भगति रामानन्द जानै, पूरन ब्रह्म बखानै'। अतः यह स्पष्ट है कि ब्रह्मराम की जो भावना कबीर में मिलती है उसके प्रवर्तक स्वयं कबीर नहीं रामानन्द हैं। रामानन्द के सारे शिष्यों में मुख्यतः 'राम' का ही आश्रय लिया गया है। रामानन्द में निर्गुण-सगुण और योग-भक्ति का जो समन्वय था, वही बाद में संतमत के रूप में सामने आया। वास्तव में गोरखनाथ के शैवाद्वैत और संतों के ब्रह्मराम में एक ही प्रकार की रहस्य-भावना के दर्शन होते हैं, केवल नामभेद के रूप में प्रतीक भेद आ गया है। रैदास कहते हैं—

> देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला
> हे रे कलाली तैं क्या किया, सिरका सा तैं प्याला दिया
> कहै कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सिर लेऊँ
> चन्द सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला मरै न कोई
> सहज सुन्न में भाठी सखै, पीवै रैदास गुरु मुख दखै

सैना का कहना है—

> धूप, दीप, घृत साजि आरती बारने जाऊँ कमलापती
> मङ्गला हरि मङ्गला क्ति मङ्गला राजा राम राय को
> उत्तम दियरा निरमल बाती, तुहीं निरंजन कमलापाती

और पीपा कायागढ़ की योग-भावना से प्रभावित होकर उसी स्वर में गाते हैं—

> काया देवा काया देवल काया जंगम जाती
> काया धूप दीप नैवेदा काया पूजौं पाती
> काया बहुखंड खोजते नव निद्धी पाई
> न कछु आइबो न कछु जाइबो राम की दोहाई

जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे जो खोजे सो पावै
पीपा प्रणवै परमतत्तु है सतगुरु होय लखावै

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरखनाथ और योगियों के रहस्यवाद ने सन्तमत को एक विशेष दिशा दी। अनेक पारिभाषिक शब्दों और अनेक विचारधाराओं में समानता इसी आदान-प्रदान की ओर संकेत करती है। वास्तव में सारे भारतीय धर्मों में विधि-विधानों की विभिन्नता होते हुए भी मूल रहस्यवादी भावना एक ही रही है। उसमें कोई अन्तर नहीं आया है। ब्रह्म-जीव एक हैं। इस देह के भीतर ही ब्रह्म का निवास है और इसी देह में ही उसकी प्राप्त हो सकती है। सहजज्ञान, सहजानुभूति और सहज प्रेमसाधना के द्वारा इसे जीवब्रह्मैक्य की अनुभूति ही साधक का लक्ष्य है। एक बार ऐसी अनुभूति प्राप्त कर लेने पर मनुष्य अपनी क्षुद्र परिस्थितियों से उठकर विराट विश्व-चेतना का अंश बन जाता है। सारी भारतीय रहस्य-भावना के मूल में यही विचारधारा है। विभिन्न प्रतीकों में इसी की अभिव्यक्ति हुई है।

———

५
सन्त-काव्य में रहस्यवाद

प्राचीन हिंदी काव्य में रहस्यवाद का सबसे सुन्दर प्रकाशन संत काव्य में हुआ है। संत-काव्य मूलतः अद्वैतवादी है और उपास्य के रूप में वह निर्गुण ब्रह्म को उपादेय मानता है। इस प्रकार उसका दृष्टिकोण उपनिषद के ऋषियों के दृष्टिकोण बहुत निकट है और कदाचित् वह स्वयम् उपनिषदों से प्रभावित है। इस प्रभाव को उसने किस माध्यम से ग्रहण किया, यह कहना कठिन है परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि उपनिषदों के अनेक गम्भीर तत्त्व सार-रूप से संतमत में उपस्थित कर दिये गये हैं।

इतिहास की तिथि-परंपरा में संतमत योगमार्ग (नाथपंथ) का परवर्ती है। अतः संतों के रहस्यवाद में नाथपंथ के रहस्यवाद की बहुत सी बातें भी आ गई हैं। योगियों के रहस्यवाद की हमने पीछे विशद विवेचना की है। यह रहस्यवाद मुख्यतः कुण्डलिनी की साधना पर आश्रित था और हठयोग उसका मेरुदंड था और कबीर पहले संत थे जिन्होंने इस क्रिया-क्लिष्ट साधना का विरोध किया और नैतिक जीवन पर विशेष बल दिया। उन्होंने कहा—

साधो सहज समाधि भली
गुरु-प्रताप जा दिन से उपजी दिन दिन अधिक चली
जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा जो कछु करों सो सेवा
जब सोवों तब करों दण्डवत पूजों और न देवा
कहों सो नाम सुनों सो सुमिरन खाँव-पियों सो पूजा
गिरह-उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखों दूजा

आँख न मूँदों कान रूँधों, तनिक कष्ट नहि धारों
खुलै नैन पहिचानों हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारों
सबद निरंतर स मन लागा मलिन वासना त्यागी
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसो तारी लागी
कह कबीर यह उनमुनि रहनी सो परगट करि भाई
दुख सुख से कोइ परे परमपद तेही पद रहा समाई

यह 'उनमुनि रहनी' नई चीज़ नहीं थी। योगावस्था की सबसे ऊँची अवस्था में पहुँच कर योगी भी उन्मन हो जाता था। परन्तु कबीर ने हठयोग की कठिन साधनाओं को हटा कर साधारण दैनिक चर्या को सँभालते हुए केवल आत्म-साधना के द्वारा ही जो अन्तिम रहस्य जान लेने की बात कही, वह बिल्कुल नई थी। अन्य स्थान पर तो उन्होंने योग की साधनाओं को वाह्य जगत से हटाकर स्पष्ट ही मन में प्रतिष्ठित किया है—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात-दिवस न करइ निद्रा
मन में आसन मन में रहना। मन का जप-तप मनसूँ कहना
मन में खपरा मन में सींगी। अनहद बेन बजावे रंगी
पंच पजारि भसम करि बंका। कहै कबीर सों लहसै लंका

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तिम व्याख्याओं के विषय में कोई विरोध न होते हुए भी सिद्ध, नाथ और संत साधना के सम्बन्ध में एक मत नहीं है। धीरे धीरे अवांछित और कष्ट-कठिन साधनायें बहिष्कृत होती गईं और उसका रूप अधिक-अधिक सरल होता गया। वैसे 'सहज' शब्द का प्रयोग तीनों साधनाओं के लिए हुआ है परन्तु साधना का सहजतर रूप हमें संत-साधना में ही मिलता है।

संतों की साधना का मुख्य आधार चारित्रिक उच्चता, मन की शुद्धता और भक्ति है। यह भक्ति सगुण के प्रति नहीं है। निर्गुण के प्रति है, यह दूसरी बात है। निर्गुण निराकार राम (ब्रह्म) के प्रति

भक्ति के कारण ही तो इस मत में रहस्य-भावना का विकास हो सका है। परन्तु संतों की इस अन्तस्साधना और भक्ति में विशेष अन्तर नहीं है। तुलसी कहते हैं—

अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहौं निरबान
जनम-जनम रघुपति-भगति, यह बरदान न आन

तो दादू भी इसी तरह की बात कहते सुनाई पड़ते हैं—

दरसन दे दरसन दै हौं तो तेरी मुकति न माँगों रे
सिधि ना माँगों रिधि न माँगों तुम्ह ही माँगों गोविंदा
जोग न माँगों भोग न माँगों तुम्हही माँगों रामजी
घर नाहिं माँगों बन नहिं माँगों तुम्ह हीं माँगों देव जी
"दादू" तुम्ह बिन और न जाने दरसन माँगों देहु जी

कबीर सगुण भक्तों की तरह ही अपने को असहाय बालक की भाँति भगवान् को सौंप देते हैं। वे कहते हैं—

हरि जननी, मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बगसहु मेरा
सुत अपराध करे दिन केते। जननी के चित रहे न तेते
कर गहि केस करे जो धाता। तऊ न हेत उतारै माता
कहे कबीर एक बुद्धि विचारी। बालक दुखी दुखी महतारी

सगुण भक्तों की तरह ही निर्गुण सन्त भी अपने निर्गुणदेव के प्रति गद्गद् भाव से रोता हुआ उपस्थित होता है—

तुम बिन ब्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरि
अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवें दूरि
आप अपरछन होइ रहे, हम क्यों रैन विहाय
दादू दरसन कारने तलफि-तलफि जिय जाय

परन्तु जहाँ सगुण राम या कृष्ण के प्रति यह विह्वल भक्ति-भावना साधारण मनीषा को ग्राह्य है, वहाँ निर्गुण राम (ब्रह्म) के प्रति यह संयोग-वियोग रहस्यवाद की सृष्टि करता है। भेद केवल आलम्बन की

स्थूलता का है। सन्त के लिए अपना आलम्बन उतना ही स्पष्ट है, जितना भक्त के लिए। उसके लिए तो कोई 'रहस्य' है ही नहीं। सूरदास की राधा और मीरा की विरहिणी आत्मा ही दादू और कबीर की इन पंक्तियों में प्रकट हुई है—

वे दिन कब आवैंगे माइ
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंग लगाइ
हौं जानूँ जू हिलि-मिलि खेलूँ तन-मन प्रान लगाइ
या कामना करो परिपूरन समरथ हो रामराइ

(कबीर)

रँग भरि खेलौ पीव सों तहँ बाजै बेनु रसाल
अकल पाट करि बैठ्या स्वामी प्रेम पिलावैं लाल
रँग भरि खेलौं पीव सों कबहुँ न होइ वियोग
आदि पुरुष अंतरि मिल्या कहु पूरब के योग
रँग भरि खेलौं पीव सों बारह मास बसन्त
सेवग सदा अनन्द है जुगि जुगि देखौं कंत

(दादूदयाल)

वास्तव में दोनों पंथों में प्रेम की महत्ता थी। प्रेम और विरह की साधना ही भक्तों और सन्तों का प्राण है। भक्त भी अपने आराध्यदेव को उतना ही रहस्यमय बताते हैं जितना सन्त निर्गुण ब्रह्म को। तुलसी और सूर ने तो स्पष्टतः निर्गुण ब्रह्म और अवतारी राम एवं कृष्ण में एकात्मता की घोषणा की है। तुलसी कहते हैं—

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम जस गावा
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना
आनन-रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाय नहि बरनी

जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहिं धरहिं मुनि ध्यान
सोइ दशरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान

साधारण शब्दों में हम ब्रह्म को निर्गुण अथवा सगुण कहते हैं, परन्तु वास्तव में वह अलौकिक है, अतः उसके गुण अलौकिक हैं। उन्हें उन शब्दों में प्रगट नहीं किया जा सकता जिनसे हम साधारण परिचित वस्तुओं के गुण प्रगट करते हैं। तुलसी का राम-संबंधी दृष्टिकोण, संक्षेप में, इस प्रकार है—निर्गुण रूप ब्रह्म की ज्ञानी वन्दना करते हैं, सगुण रूप का मुनि ध्यान करते हैं, वही दशरथ-सुत राम हैं जो भक्तों के लिए अवतीर्ण हुए हैं। ब्रह्म वास्तव में अगुण अरूप अलख है परन्तु प्रेम के कारण भक्त उसमें गुणों का आरोप कर लेते हैं, और वह सगुण रूप भी भक्त की भावना और तन्मयता के कारण उतना ही सत्य है जितना निर्गुण। भक्त की भावना ही अव्यक्त ब्रह्म की व्यक्तीकरण (स्थूलीकरण) का कारण है—

अगुण अरूप अलख अज जोई
भगत प्रेम-बस सगुन सो होई
जो गुनरहित सगुन सोइ कसे
जलु-हिम-उपल बिलग नहिं जैसे

सूरदास के 'गोपाल' भी साधारण गोपाल नहीं है। वह तो पूर्ण ब्रह्म हैं—

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल स्वरूप

सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब बिधि काल
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल

सूरसागर में स्थान स्थान पर कृष्ण की निर्गुण-परक व्याख्या हुई है। यह स्पष्ट है कि सूरदास के कृष्ण मूल रूप में निर्गुण हैं परन्तु

साधारण जनों के लिये अगम, अगोचर ब्रह्म-रूप कृष्ण की कल्पना करना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। इसी से सूरदास ने सगुण उपासना को ही अपना लक्ष्य रखा यद्यपि स्थान-स्थान पर उन्होंने सगुण कृष्ण में निर्गुण का आभास दिया है—

अविगत गति कछु कहत न आवै
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै
परम स्वाद सब ही जु निरंतर अमित तोष उपजावै
मन वाणी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै
रूप-रेख गुण-जाति-जगति-बिनु निरालंब मन चकित धावै
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुण लीला पद गावै
स्कं० १, पद २

वेद उपनिषद यश कहै निर्गुणहिं बतावै
सोई सगुण होइ नन्द की दाँवरी बँधावै
स्कं० १, पद ४

यदि हम ब्रह्म और कृष्ण के सम्बन्ध में सूरदास के दार्शनिक सिद्धांतों को एक स्थान पर रक्खें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उन्होंने कृष्ण के दो रूप हमारे सामने रखे हैं। वास्तव में कृष्ण पूर्ण परब्रह्म और निर्गुण निराकार हैं। परन्तु भक्तों के लिए वे लीला-रूप धारण कर लेते हैं और लीलाकर कृष्ण के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। इस प्रकार भक्त की भावना से निर्गुण सगुण हो जाता है। निर्गुण ब्रह्म (कृष्ण) के कई अवतार हैं जिनमें कृष्णावतार भी एक है। इसी भाव से सूरदास ने अनेक अवतारों का वर्णन किया है। त्रिदेव (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) की सत्ता निर्गुण ब्रह्म से नीचे है और इसी लिए कवि ने अनेक रूपों में यह स्पष्ट किया है कि ये देवता निर्गुण रूप ब्रह्म (कृष्ण) और उनकी लीलाओं का ध्यान करते हैं और उनमें आनन्द लेते हैं। लीलाधर कृष्ण इस पृथ्वी की लीला समाप्त करने के बाद अपने लोक (गोलोक) में चले जाते हैं और वहाँ उस

समय तक निवास करते हैं, जब तक उन्हें भक्तों के हित के लिये अवतार नहीं लेना पड़ता। भगवान के अनुग्रह से ही भक्त उस लोक को प्राप्त होता है। निर्गुण ब्रह्म (कृष्ण) की भक्ति प्राप्त करना भक्त का ध्येय नहीं है। उसे गोलोकवाले लीलामय राधा-पति कृष्ण अधिक प्रिय हैं।

ऊपर जो हमने कबीर, दादू, तुलसी और सूर के ब्रह्म-सम्बन्धी विचारों की विवेचना की है, उसमें हमारा मन्तव्य यही है कि हम यह स्थापित कर सके कि वास्तव में भक्तिभाव की अलौकिक भूमि पर खड़े होने पर निर्गुण सन्त और सगुण भक्त एक ही सी बातें कहने लगते हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि सन्तों का रहस्यवादी अनुभव कोई अद्‌भुत रहस्यानुभव है या कोई 'गुह्य' वस्तु है, अथवा भक्तों को अपनी रागात्मिका भक्ति में उसी प्रकार के अनुभव नहीं होते। भेद केवल रूप का है। भक्तों का आश्रय रूप है, सन्तों का आश्रय अरूप है। इस भेद के अनुसार उनके अनुभवों और उन अनुभवों के प्रकाशन की भाषा में भी भेद हो जाता है। जहाँ साधना की अंतिम अवस्था को पहुँच कर भक्त राम-कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करता है, वहाँ सन्त को इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। भीखा साहब की तरह वह एक अलौकिक नृत्योल्लास का अनुभव करता है—

धुनि बजत गगन मँह बीना, जहँ आपु आपु रस भीना
भेरी ढोल संख सहनाई, ताल मृदंग नवीना
सुर जहँ बहुतै मौज सहज उठि परत है ताल प्रवीना
बाजत अनहद नाद गहागह, धुंधकि धुंधकि सुर झीना
अंगुरी फिरत तार सातहु पर, लय निकसत झिनझीना
पांच पचीस बजावत गावत, निर्त चारु छवि लीन्हा
उघटत तननन धिता धिता, कोउ ताथेइ थेइ तत कीन्हा
बाजत ताल तरंग बहु, मानो जंगी ज़ंत्र कर लीन्हा

सुनन सुनत जिव थकित भयो, मानो ह्वै गयो सबद अधीना
गावत मधुर चढ़ाय उतारत, रुनझुन रुनझुन धूना
कटि किंकिम पगु नुपूर की छवि सुरति निरति लौलीना
आदि सबद ओंकार उठतु है, अटुट रहत सब दीना
लागी लगन निरंतर प्रभु सो, भीखा जल मन-मीना

मूल अध्यात्मतत्त्व के प्रति आत्मा की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करने के लिए सतों ने पुरुष-स्त्री के लौकिक प्रेम को प्रतीक के रूप में ग्रहण किया परन्तु उनकी तन्मयता के कारण प्रतीक रूपक मात्र न रह सका। वही सब कुछ हो गया। 'दादू' की प्रेम और विरह की कविताएँ बड़ी मार्मिक हैं—

बाला सेज हमारी रे, तूँ आव हौं वारी रे
हौं दासी तुम्हारी रे ॥टेक॥
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुन्दर सेज सँवारूँ रे
जियरा तुम पर वारूं रे
तेरा अँगना पेखौं रे तेरा मुखड़ा देखौं रे
जब जीवन लेखौं रे
मिलि सुखड़ा दीजै रे, यह लाहड़ा लीजै रे
तुम देखे जीजै रे
तेरे प्रेम को माती रे तेरे रंगडे राती रे
'दादू' वारणों जाती रे

अजहुँ न निकलै प्राण कठोर ॥टेक॥
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर
चारि प्रहर चारों जुग बीते, रैन गँवाई भोर
अवधि गई अजहूँ नहिं आए, कतहुँ रहे चितचोर
कबहुँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर
दादू ऐसे आतुर विरहणि जैसे चंद चकोर

इस प्रकार के तन्मयता-प्रधान गीतोंके कारण संत-काव्य में रहस्यात्मकता

आ जाना स्वाभाविक था। परन्तु इतनी रहस्यवादिता किसी काव्य को लांछित नहीं कर सकती। संत-काव्य में योग के कुछ प्रतीकों (इड़ा, पिंगला, सूर्य, सहस्रार आदि) को लेकर भी रहस्यानुभव को व्यक्त करने को चेष्टा मिलेगी। परन्तु उसके लिए पूर्ववर्ती नाथ-संप्रदाय (हठयोग) ही अधिकतः उत्तरदायी है। संतमत का रहस्यवाद केवल निर्गुण के प्रति भक्ति-भावना के कारण है। कबीर जब अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं तो वह कुछ थोड़े से शब्दों में संत-काव्य के रहस्यवाद का उद्‌घाटन कर देते हैं। निर्गुण ब्रह्म के प्रति रतिभाव के कारण ही यह रहस्यवाद दिखलाई पड़ता है, परन्तु यह रतिभाव केवल साधक की गम्भीरतम तन्मयासक्ति के प्रकाशन का एक साधन मात्र है। इससे अधिक इसकी उपादेयता नहीं है।

जो हो इसमें सन्देह नहीं कि संतकाव्य का मूलाधार रहस्यवाद है। जीव, ब्रह्म और प्रकृति (सृष्टि) के भीतर की अद्वैतस्थिति का प्रकाशन इस रहस्यवाद की सबसे ऊँची वृत्ति है। अनेक प्रकार के अनेक रूपकों से, अनेक उदाहरणों से संतों के इस अद्वैतस्थिति का प्रकाशन किया है। इस संतकाव्य में भी कबीर और दादू का काव्य सबसे महत्वपूर्ण है। कबीर से काव्य में ज्ञानपक्ष का विस्तार अधिक है और दादू में अनुभूतिपक्ष का, परन्तु दोनों अन्यतम रहस्यवादी हैं। उन्होंने उपास्य से अलग हो अपनी स्थिति ही नहीं स्वीकार की है और जहाँ स्वीकार भी की है, वहाँ केवल विप्रलम्भ की भावना द्वारा अद्वैतभाव को अधिक दृढ़ करने के लिए। कबीर की अद्वैत-भावना तो इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि वह अपने राम को एक भी नहीं कह सकते, दो भी नहीं कह सकते—

एक कहौं तो है नहीं दोय कहौं तो गारि
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि

इस वचन में द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों का विरोध है और अनिर्वचनीयवाद की स्वीकृति है। राम के लिए हमारी परिभाषा के कोई

भी शब्द काम में नहीं आ सकते। अवतारी राम परिभाषा में बंध सकते हैं, परन्तु वे कबीर के राम नहीं हैं। वे स्पष्ट कहते हैं—ब्रह्मा, शिव, कृष्ण और दशों अवतार मर गये—केवल वही निर्गुण काल के परे है। इस रमैनी से निर्गुण राम की महत्ता का पता चलता है।

कबीर को राम के सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वह गुणों के परे होकर भी गुणों को लपेटे हुए है, फिर कोई क्या कहे! जीव और ब्रह्म एक ही है—जैसे बूँद-समुद्र। इन दोनों की अद्वैतावस्था ही अंतिम लक्ष्य है। भक्तिद्वारा इस अद्वैतावस्था की प्राप्ति होती है, परन्तु तब न तो उस अद्वैतावस्था के आनन्द का ही वर्णन हो सकता है, न उस परिस्थिति का वर्णन किया जा सकता है। इसे ही कबीर कहते हैं—

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ
समंद समाना बूंद मैं सो कत हेर्‍या जाइ
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ
बूंद समानी समंद में सो कत हेरी जाइ

इस अद्वैतावस्था की प्राप्ति के लिये जहाँ जीव प्रयत्नशील है वहाँ ब्रह्म (राम) भी। अतः कहा नहीं जा सकता, कौन किसमें समाया, जीव ब्रह्म में, या ब्रह्म जीव में! इसे कौतुक समझिए। इसे ही कबीर ने अनेक रूपकों में कह डाला है।—ससीम असीम को निगल लेता है या एक अतीव अनोखी आश्चर्यजनक प्राकृतिक स्वरूपों के विपरीत घटना घटित होती है। यह आध्यात्मिक अनुभव का व्याख्यात्मक चित्रण है—

१—एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहलैं पूत पीछैं भई माई, चेला कै गुर लागे पाई
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई

बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई
तलि करि साखा उथरि कर मूल, बहुत भाँति जड़ लागै फूल
कहै कबीर या पद को बूझै, ताकूँ तीन यूँ त्रिभुवन बूझै

२—अवधू ग्यान लहरि धुनि माडी रे
सबद अनाहत अतीत राता इहि विधि त्रिष्णां सार्डी ॥टेक॥
बन कै ससै समंद घर कीया, मछा बसै पहाड़ी
सुइ पीवै ब्राह्मण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी
साड़ बुरौ कोलो में बैठी, मैं खूँटा मैं गाड़ी
ताँणो बाँणो पड़ी अनवासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अगम ग्यान पद माहीं
गुर प्रसाद सूई के नांकै, हस्ती आवें जाहीं

परन्तु एक दूसरे प्रकार के रहस्यवादी पद वे है जिनमें आध्यात्मिक अद्वैतानुभव के आनन्द का वर्णन किया गया है। उनमें या तो योग-पंथ की आत्मसम्बन्धी धारणाओं का सहारा लिया गया है या फिर प्रकृति से रूपक गढ़ा गया है, जैसे—वसन्त, चाँदनी या सूर्य का तेज या बिजली का चमकना। सच तो यह है कि यह अनुभव गूँगे का गुड़ है। इसे अनुभवी समझ ही नहीं सकता। अनुभवी भी समझा नहीं सकता। इसलिये वह अनुभव के दूसरे क्षेत्रों से सहारा लेता है। वास्तव में वह आध्यात्मिक अनुभव को प्रगट करने की शैली मात्र है। साधारण मिलन और वियोग के पदों में भी रूपक ही लिखा जा सकता है। यहाँ आत्मा "राम की बहुरिया" और राम 'पति' हैं। इस मिलनोल्लास और वियोगगांभीर्य के कारण काव्य-भावना के सबसे ऊँचे आकाश में उड़ने लगती है। इसे ही रहस्यवाद कह दिया जाता है। यही नहीं, योग की सुषुम्ना आदि और तत्संबंधी साधना और तज्जन्य आनन्द को भी रहस्यवाद कह दिया जाता है, यद्यपि योग का रहस्यवाद से कोई संबंध नहीं है।

एक तीसरे प्रकार को प्रकाशन-शैली है निश्चित प्रतीकों का प्रयोग।

इन प्रतीकों को हम छोटा-मोटा रूपक कह सकते हैं। कबीर के साहित्य में इन प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। कभी-कभी प्रतीकों में पूरी बात कह दी गई है, जैसे—

१—चलि चलि रे भँवरा कवल पास, भँवरी बोलै अति उदास।टेक
तैं अनेक पुहुप को लियो भोग, सुख न भयौ तब बढ़्यौ है रोग
हौं ज कहत तोसों बार बार, मैं सब बन सोध्यो डार डार
दिना चारि के सुरंग फूल, तिनहिं देखि रहा रह्यौ है भूल
या बनासपति मैं लागेगी आगि, तब हूँ जैहो कहाँ भागि
पहुप पुराने गये सूख, तब भँवरहिं लागी अधिक भूख
उड्यौ न जाय बन्द गयौ है छूटि, तब भँवरी रूनी सीस कूटि
दस दिसि जोवै मधुप राह, तब भँवरी ले चली सिर चढ़ाइ
कहै कबीर मन को सुभाव, राम-भगति बिन जन कौं डाव

२—सर्पनी ते ऊपर नहिं बलिया, जिन ब्रह्मा विष्णु महादेव छलिया
मारु मारु सर्पनी निर्मल जल पैठी, जिन त्रिभुवन डसिके गुरु प्रसाद दीठी
सर्पनी सर्पनी क्या कहहु भाई, जिन साचु पछान्या तिन्हि सर्पनी खाई

(यहाँ सर्पनी का तात्पर्य है माया)

३—इति तत राम जपहु रे प्रानी, बूझै अकथ कहाणी
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि जाग्रत रैनिविहानी ॥टेक॥
डाइंन डारै सुनहाँ डोरै स्यंघ रहै बन घेरै
पंच कुटुम्ब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद संघेरै
रोहै मृग ससा बल घेरै, पारधी बाँण न मेलै
सामर जलै सकल बन दाझै, मंझ अहेरा खेलै
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पढ़ै विचारै
कहै कबीर सोइ गुरु मेरा, आप तिरैं मोहिं तारै

४—अब मोहि ले चल नणद के बीर, अपनैं देसा
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आदि बेदेसा ।।टेक।।
गंग तीर मोरी खेती-बारी, जमुन तीर खरिहाना
सातों बिरही मेरे नीपजै, पंचू मोर किसाना
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई
सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाई

कुछ पद ऐसे भी हैं जो वास्तव में निरर्थक हैं—केवल पंडितों में भ्रम में डालने के लिए जिनकी सृष्टि हुई है। इनके भी अर्थ खींचतान से निकाले जाते हैं और इन्हें कबीर के रहस्यवाद के उदाहरण में दिया जाता है। वास्तव में इन पदों में पंडितों के ज्ञान पर व्यंग के सिवा और कोई भाव है ही नहीं—

फील रबाबा बलद्दु पखावज कौआ ताल बजावै
पहरि चौलना गहदा नाचै भैंसा भगति कहावै
राजा राम क करिया बापै, किंनै बूझनहारे खावै
बैठि सिंह घर पान लगावहिं घीस गल्योरे लावै
घर घर मुसरी मंगल गावहि कछुवा संख बजावै
बस को पूत बिआहन चलिया सहने मंडप छाये
रूप कन्निया सुन्दर बेधो ससै सिंह गुन गाये
कहत कबीर सुनहु रे पंडित कोरां परबत खाया
कछुवा कहै अंगार मिलो रे लूकी सबद सुनाया

बदिला पूत पिछैरी माई। गुरु लागे चेले की पाई
एक अचंभौ सुनहु तुम भाई। देखत सिंह चरावत गाई
जल की मछुली तरुवर धाई। देखत कुतरा लै गई बिलाई
तले रे बैसा ऊपर सूला। तिसकै पेड़ लगे फल फूला
घोरे चरि भैंस चरावन जाई। बाहर बैल गोनि घर आई
कहत कबीर जो इस पद को बूझै। राम रमत तिस सब
किछु सूझै

अधिक से अधिक खींचातानी से इनका तात्पर्य यही हो सकता है कि कबीर एक उलटे व्यापार को देखकर आश्चर्य से भर गये है और प्राकृतिक व्यापारों को उलट कर, उनमें आश्चर्यजनक संघटन उत्पन्न कर, अपने अनुभव को व्यक्त करना चाहते हैं। वह आश्चर्य-व्यापार है ससीम का असीम को आत्मसात कर लेना या आत्मा का ब्रह्म को समा लेना। इनमें से प्रत्येक व्यापार की अलग-अलग व्याख्या करना अनुचित है। इससे मूलार्थ खो जाने का डर है। कबीर उलटबाँसियों में एक पूर्व परम्परा की रक्षा कर रहे थे जैसा नाथपंथियों और सिद्धों की इसी प्रकार की वाणी से प्रगट है, परन्तु हमें केवल कूट नहीं समझना होगा। हम उनकी साधना से दूर रहकर कोरे शास्त्रज्ञान के बल पर उनकी आलोचना करने बैठे हैं। इससे कबीर के आत्मानुभव की बात दब जाती है, उभर आती है परम्परा। वास्तव में कबीर के काव्यों को हमें उनकी साधना की पृष्ठभूमि में रखकर ही देखना होगा। तभी हम उनके साथ ठीक न्याय कर सकेंगे और उनके काव्य को उधेड़-बुन कर अपनी बुद्धि का कौशल दिखाने से बाज़ आयेंगे। उलटबासियाँ कबीर की व्यक्तिगत साधना के अन्यतम फल को प्रगट करती हैं। इनमें साधना की कोई ऐसी पद्धति नहीं है, कोई सामाजिक अनाचार की बात नहीं है, जैसी सिद्धों की सधना में है, जिसे छिपाना ध्येय है या जिसे साधक अश्रद्धालु या अयोग्य पात्र के हाथ में पड़ने देना नहीं चाहते। इनमें केवल साधक का रहस्यानुभव है जो हमारे लिए चाहे कूट हो परन्तु उनके लिए प्रकाश की तरह उज्ज्वल भास्वर था। परन्तु हमें इस प्रकार के पद भी मिलेंगे जहाँ कबीर साधना को छिपाना चाहते हैं या असंत, पंडित, कोरे ज्ञानी कुतर्की को भ्रम में डालकर अपना पिंड छुड़ाना चाहते हैं। कबीर स्वयं सतत जिज्ञासु रहे, इसी से सच्चे जिज्ञासुओं को वे आत्मानुभव बताते थे। कबीर का उपदेश संबन्धी दृष्टिकोण इस पद से प्रकट है—

बोलना का कहिये रे भाई, बोलत तत्त नसाई ॥टेक॥

बोलत बोलतबढ़ै विकारा,बिन बोल्याँ क्यूँ होई विचारा
संत मिलै कछु कहिये कहिये,मिलै असंत मुष्टिकर रहिये
ग्यानी सूँ बोल्याँ हितकारी, मूरिख सूँ बोल्याँ झकमारी
कहै कबीर आधा घर डोलै,भरया होई तो मुखाँ न खोलै

असंत से कबीर कैसे कहेंगे, इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बागड़ देश लूवन का घर है
तहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ॥टेक॥

सब जग देखौ कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत . कबीरा
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी, न तहाँ सतगुरु साधू वाणी
न तहाँ कोकिल न तहाँ सुवा, ऊँचै चढ़ि-चढ़ि हंसा मूवा
देसा मालवा गहर गँभीर, डग डग रोटी पग पग नीर
कहै कबीर घर ही मनमाना, गूंगे का गुड़ गूँगै जाना

वास्तव में ये पिछली शैलियाँ कबीर के निर्भीक, आत्माभिमानी व्यंग-प्रिय व्यक्तित्व को ही उभारने में सहायक हैं। उनके पीछे आध्यात्मिक साधना का संदेश ढूँढना इस बुद्धिवादी युग की विशेषता है जिसे अध्यात्म से ग़रज़ नहीं, परन्तु जिसे पग-पग पर अध्यात्म चाहिये।

यदि जीव और ब्रह्म के अलौकिक संबन्ध को अनुभव करने का नाम ही रहस्यवाद है तो उपनिषद भारतीय रहस्यवाद के आदिस्रोत हैं। उनके द्रष्टाओं ने ऐसी चरम सत्ता का अनुभव किया है जो प्रकृति और मन में अनन्त काल से व्याप्त हो रही है, जिससे सृजन होता है, जिसमें संसार कार्य करता हुआ जीता है और अंत में जिसमें सृष्टि कर लोप हो जाता है। वे इस सत्ता को बौद्धिक तर्क द्वारा प्रमाणित करके ही नहीं रह जाते, उसकी प्राप्ति का मार्ग भी बताते हैं। वे आत्मज्ञान की ओर संकेत करते हैं परन्तु वे यह भी जानते हैं कि अनुभूतिजन्य पारलौकिक ज्ञान जो स्वयं एक अलौकिक और रहस्यपूर्ण अनुभव है, शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। वह ज्ञान तो

भीतर की वस्तु है, आत्मा में स्थिति हो जाना है। उसकी ओर तो आत्मज्ञानी योगी इंगित ही कर सकता है जिससे नये साधक को अन्धकार में स्थान-स्थान पर प्रकाशस्तभ मिल सकें। इससे अधिक वह क्या करे ?

उपनिषदों के समय में अर्थशून्य कर्मकांड की प्रधानता थी। उपनिषदों के ऋषियों को नई विद्या की आवश्यकता पड़ी—ऐसी विद्या जो मनुष्यों को अन्तर्मुख और आत्ममुख कर सके। जीवन की महत्ता भुला दी गई थी। कर्मकांड क्यों किये जायें ! कर्मों का अन्त कहाँ है ! परन्तु कर्मकांडी इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते थे। उपनिषदों के द्रष्टाओं ने चितसत्ता के विषय में अपनी अनुभूति के सहारे एक नये दृष्टिकोण का विकास किया। कर्मकांड की दलदल में फँसे पक्षी को अनन्त आकाश की उड़ान के लिए उन्होंने पंख दिये। उन्होंने कहा—इन्द्रियाँ जड़ हैं और तमस्-प्रधान हैं। अतएव उनसे जड़ वस्तुओं के वाह्य गुणों को ही जाना जा सकता है। गुणों से परे जो है, उसे हमारी जड़ और तामस इन्द्रियाँ ग्रहण ही नहीं कर सकतीं (केन० १-३; कठ० ६-६, मुं० ३-१।४)। अनुमान तक प्रत्यक्ष से चलकर व्यक्ति के सहारे हम पहुँचते हैं। परन्तु चितसत्ता का ज्ञान अनुमान द्वारा प्राप्त हो ही नहीं सकता। अपरोक्ष का परोक्ष के साथ कोई सीधा संबन्ध ही नहीं है। चितसत्ता अप्रमेय है (बृ० ४)। अनुमान से उसे जाना ही नहीं जा सकता। अब एक ही साधन रह गया—शब्द। शब्द का अर्थ है आप्त वचन। अर्थात् उन ऋषियों और द्रष्टाओं की उक्तियाँ जिन्होंने सत्य को आत्मज्ञान किया है। परन्तु आप्त वचन उस ज्ञान की आवश्यकता की ओर ही इंगित कर सकते हैं, साधना से ही यह ज्ञान प्राप्त होगा।

यह साधना क्या है ! हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुख है। इसीलिए मनुष्य बाहर संसार भर को तो देखता है परन्तु अपने को देख ही नहीं पाता। अमरत्व का इच्छुक अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी बना लेता है। बाहर से

हट कर वह अपने भीतर आ जाता है। कछुवे की तरह वह अपने अङ्ग समेट कर ऐसा हो जाता है जैसे बाहर उसके लिए कुछ है ही नहीं। श्वेताश्वेतर उपनिषद कहता है—"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते वहिः २, ४, १। इसीलिए साधक को साधना-द्वारा बाहर की संवेदनाओं को अग्राह्य बना लेना चाहिये। इससे पाप क्षमा होंगे; नम्रता, शान्ति, सत्य, अन्तर्दृष्टि और सत्य की खोज की शक्ति का प्रादुर्भाव होगा।

तात्पर्य यह है कि उपनिषदों के ऋषियों द्वारा बताया हुआ ज्ञान बाहर से नहीं आता—वह आत्मा के भीतर से ही विकसित होता है। आप्तवचन और सदाचार उसके विकास में सहायक हैं।

तपस् द्वारा जब साधक आत्मशुद्धि कर ले और उसकी आत्मा सत्-ज्ञान के लिए उपयुक्त पात्र बन जाय तो उसे सद्गुरु की खोज करनी चाहिये। उपनिषद ग्रंथों में गुरु की बड़ी महत्ता है। उपनिषद शब्द का अर्थ ही (उप+नि+सेद) 'पास बैठना' या गुरु के चरणों में बैठकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान है। उपनिषद बारबार इस ज्ञान को 'रहस्यविद्या' के नाम से पुकारते हैं। यह पवित्र विद्या है। यह गुरु का आशीर्वाद है। गुरु की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही उपनिषद कहते हैं—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत क्षुरस्य धारा निशिता दुरामया दुर्गम् पथस्तत्कवयो वदन्ति (कठ० १, ३, १४) छांदोग्य के छठे अध्याय के १४वें खंड में ऐसे पुरुष का दृष्टांत है जिसकी आँखें बँधी हुई हैं और जो गांधार देश से लाकर जनशून्य स्थान में छोड़ दिया गया है। वह चिल्लाता है—"मुझे आँखें बाँध कर लाया गया है और आँखें बाँध कर ही छोड़ दिया है।" तब उस पुरुष के बन्धन खोलकर कोई कहे कि "गांधार देश इस दिशा में है, सीधा चला जा" तो वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम पूछता हुआ गांधार में ही पहुँच जायगा। यह आँखों का बन्धन गुरु ही खोलेगा, वही स्थान की ओर निर्दिष्ट करेगा।

गुरु-शिक्षा (श्रवण) के पश्चात मनन आता है। इसकी चार सीढ़ियाँ हैं—(१) मनन तपस के रूप में (२) मनन ध्यान और जप के रूप में, (३) ॐ पर ध्यान, (४) प्रतीकोपासना अर्थात प्रतीकों पर मनन। शिष्य को क्रमशः मनन की इन साधनावस्थाओं को पार करना होता है।

इन साधनाओं का अंत योग में होता है। योग युज् धातु से बना है जिसका अर्थ है जोड़ना। जीवात्मा परमात्मा से संबंध जोड़ता है। रहस्यवादियों का विश्वास है कि इस तरह का असीम से ससीम का संबंध संभव है। कई उपनिषदों में योग की परिस्थितियों के वर्णन हैं, परन्तु श्वेताश्वेतर में इसका विशेष विवरण दिखाई पड़ता है। इस उपनिषद के दूसरे अध्याय में योग की क्रियाओं और उनके प्रभाव का विशद वर्णन है।

योग का अन्त ईश्वर-दर्शन अथवा सत्यदर्शन में है। योगी ईश्वर या सत्य का साक्षात्कार कैसे करता है। इन्द्रियों से, कि मन से, अथबा अतींद्रिय, अतिबौद्धिक, अनुभूतिजन्य ज्ञान से। कठोपनिषद के अनुसार चरमसत्ता इन्द्रियग्राह्य है ही नहीं। "न सदृशंतिष्ठति ससमस्य न चक्षुषा पश्चति कश्चनैत्रम्। हृदा मनीषा मनसाभि क्लृप्तो च एतद्वि-दुरमृतास्ते भवन्ति (३, ६, ६)। उस चरम सत्ता को कोई देख नहीं सका है, न यह ही संभव है कि उसे हृदय, कल्पना अथवा मन से जाना जा सके। जो इस परम सत्य को जानते हैं वही अमृतत्व के अधिकारी होते हैं।

उपनिषद आचार के दृष्टिकोण से ईश्वरानुभूति पर विचार करते हैं—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रासादान्महियान आत्मनः" (क० १, २, २०)। जब आत्मा पापमुक्त होकर वीतराग हो जाता है, तब उसे परमात्मा की महत्ता का अनुभव होता है।" यह ईश्वरदर्शन आत्मदर्शन है। आत्मा के अन्दर ही परमात्मा का साक्षात् होता है।

इसीलिये रहस्यवादी योगी आत्मशुद्धि से प्रारम्भ करता है। अपने भीतर, अपनी आत्मा में ही वह इस अनन्त सत्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त सौन्दर्य की खोज करता है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर योगी की आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन है—उसके अनुभव और उसके स्वप्न व्यक्त हैं। वह ध्यान की अवस्था में रूप, रंग, नाद और अलौकिक प्रकाश का अनुभव करता है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योत विद्यु त्स्फटिक शशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुनः सराणि
ब्रह्मणाभिव्यक्ति कर्णाणि योगी ॥श्वे० २॥

"कुहरे और धुएँ जैसे, धूप,अग्नि और पवन जैसे, जुगनू, स्फटिक और चन्द्रमा जैसे रूपों में योगी रमता है।' वृहदारण्यक में भी एक स्थान पर लिखा है कि आत्मखोज में बढ़ते हुए योगी को केसरिया रंग के कपड़े, रक्तवर्ण तितलियाँ, अग्निशिखाएँ, विकच कमल और आकाश में कौंधती हुई बिजलियाँ दिखलाई पड़ती हैं, वृहद और मैत्री उपनिषदों में अनहदनाद का भी उल्लेख है। छांदोग्य उपनिषद में लिखा है—तदस्मिन् शरीर संस्पर्शे नोष्णिमानं निजानाति। तस्मैषां श्रुतिः। यत्र कर्णावपि गृह्य निनदमिवं, वदपुंरिव, अग्नेरिवज्वलत उपशृणोति (३, १३, ४,)। 'कान बंद कर हम अन्दर के परमतत्व के अस्तित्व का अनुभव कर सकते हैं। तब विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं—जैसे मेघगर्जन ध्वनि और विस्फोट ध्वनि'। जहाँ रंग-रूप के अनुभव की बात आती है, वहाँ उपनिषद के ऋषि अधिक मुखर हो जाते हैं—'हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तयदात्म विदो विदुः (मु० १, २, ६)। 'हिरण्यमय कोश पर विरज और निष्कल ब्रह्म विराजमान है। वह समस्त ज्योतियों की ज्योति है जिसको आत्मविद ही देख सकते हैं।'

परन्तु साधना के ऊपर है ब्रह्मानुग्रह (पुष्टि)। 'यमेवैष वृणुते ते नैवलभ्यः तस्यैस आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्—(मु० ३, २, ३)। आत्मा जिसे चाहती हैं, उसे केवल आत्मा की अनुभूति होती है परन्तु साधना के द्वारा जो आत्मशुद्धि होती है वह तो वांछनीय हैं ही। आईना जब स्वच्छ होता है तो उसमें प्रत्येक प्रकार का उज्ज्वल प्रतिबिंब दिखाई दे सकता है, इसी प्रकार योगी को अपनी चरम साधना पर पहुँच जाने के बाद आत्मदर्शन हो जाता है । वह अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है ।' जैसे दीपक के सहारे मनुष्य वस्तु को ठीक ठीक देखता है। उसी तरह वह अपसी आत्मा के सहारे उस विराटात्मन् का दर्शन कर पाता है जो परम तत्व है, जो अस्तित्व और नाश के परे है (श्वेत० २, १४, १५)।

निर्गुण संप्रदाय में जिस परिभाषा में ब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसी परिभाषा में ईशोपनिषद आत्मा के लिए कहता है—'वह चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और निकट है। वह सब वस्तुओं के भीतर है और बाहर है।' इस कहने का क्या तात्पर्य होता है, यह तो योगी ही जान सकता है। हम जो बाहर से देखते है, जो रहस्य के अन्तःपुर में प्रवेश नहीं कर पाते, कैसे जान पायें कि आत्मा (ब्रह्म) की महत्ता और अनेकरूपता में ये समस्त विरोधी स्वभाव संश्लिष्ट हो जाते हैं। योगनिष्ठ पुरुष अपनी साधना की इस उच्चावस्था में ब्रह्म की सत्ता में एकाकार देखता है। 'अहमस्मि' और 'तत्वमसि' का उसे अनुभव होता है। इससे उसकी समस्त इच्छायें शांत हो जाती हैं। कर्म में उसकी रति नहीं रहती। शंकाओं का समाधान हो जाता है और संचित मर्म नष्ट हो जाते हैं। वह सत्य (ब्रह्म) को आत्मसात कर लेता है । उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है (बृहद० ४-४-७; छांदोग्य ३-१-२)।

इस अद्वैतावस्था का वर्णन उपनिषद इस प्रकार करते हैं—'सपाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्ट यदा

पश्यति अन्यत्री शमस्य महिमान मिति वीतशोकः'। 'जीव पुरुष के साथ एक ही वृत्त पर समासीन था परन्तु अपनी अकर्मण्यता के कारण शोक में मग्न था। जब परम शक्तिवान सत्ता से उसकी भेंट हो जाती है तो उसमें अलौकिक शक्तियाँ आ जाती हैं और समस्त शोकों का नाश हो जाता है (मु० ३, १-२)। 'जब मनुष्य पत्नी का आलिंगन करता है तो वह और कुछ भी नहीं जान पाता; जो भीतर हो रहा, जो बाहर हो रहा है, वह सब उसके लिये जैसे नहीं हो रहा। इसी प्रकार ब्रह्म जिसे मिल जाता है उसे-बाहर-भीतर कुछ भी नहीं रह जाता— न माता, न संसार, न ईश्वर, न दस्यु, न हत्यारा, न चांडाल। तब द्वैत नहीं रहता। ब्रह्म के अनन्तर किसी भी वस्तु के अस्तित्व की चेतना नहीं रहती (बृहद० ४, ३, २१-२२)।' 'जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्र में लोप हो जाती हैं, उसी प्रकार नामरूप खोकर विद्वान (योगी) ब्रह्म में अन्तर्धान (लीन) हो जाता है (मुं० ३०२, ६-८)। इस दृश्य में कर्ता और कर्म एक हो जाते हैं, ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर नहीं रह जाता और जानना होना हो जाता है। नाम-रूप से उत्पन्न द्वैत मिट जाता है। परन्तु साधक के व्यक्तित्व की भावना या उसके ब्रह्म का एकदम ही नाश नहीं हो जाता। धीरे-धीरे ही ऐसा होता है। पहले तो एकता और विभिन्नता की भावनाएँ मिली होती हैं। परन्तु धीरे-धीरे एकत्व की भावना को प्रधानता मिलती है और द्वैत लुप्त हो जाता है। साधक ब्रह्म में मिल जाता है, उसमें डूब कर एकाकार हो जाता है। ब्रह्म हो जाता है। उसे इंद्रियातीत आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द से भय का नाश हो जाता है। भयहीन सत्ता में जिसकी स्थिति है, उसे भय कैसा (,आनन्द ब्रह्मणे विद्वान न विभेति कदाचन। तैत्तिरीय, २, ४)।

उपनिषदों की यह रहस्यवादी विचारधारा कबीर के साहित्य में संपूर्ण रूप से मिल जाती है। उपनिषद में चितसत्ता को नेति-नेति कहा, विरोधी धर्माश्रय बताया। कबीर भी कहते हैं—

सुनो, धोखा कासूं कहिये
गुण में निरगुण निरगुण में गुण, बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये
अजरा अमरा कथै सब कोई अलख न कथणा जाई
नाहिं सरूप बरण नहिं जाकै, घरि-घरि रह्यौ समाई
प्यंड-ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु न अंत होई
प्यंड-ब्रह्मंड छोड़ि जे कथिये, कहे कबीर हरि सोई

एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—

जाकै मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप-कुरूप
पुहुप बास थै पातला, ऐसा तत्त अनूप

उस चिन्मय सत्ता का कोई क्या बता दे, वह तो अनुभव की चीज़ नहीं है। भाषा तो थक जाती है, वहाँ पहुँच हो नहीं सकती। कबीर उसे निर्गुण सगुण से परे, हद-बेहद से परे बताते हैं। जब उसे निर्गुण-सगुण से परे की सत्ता से परिचय हो जाता है, तब भाषा मूक हो जाती है—

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाहिं
एक रही, दूजी रही, बैठा दरिया मांहि
साखी शब्दी कब कहा, मौन रहै मन मांहि
बिछुरा था कब ब्रह्म सों, कहिवे को कछु नाहिं
साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाहिं
बिछुरी था तब ही मिला, अब कछु कहना नाहिं

साधक 'बेहद के देश' में पहुँच जाता है। इस देश का कबीर इस प्रकार वर्णन करते हैं—

हम बासी उस देश के, जहाँ बारह मास विलास
प्रेम झरै बिलसै कमल, तेजपुंज परकास
हम बासी उस देश के, जहवाँ नहिं मास बसंत
नीझर झरै महा अमी भीजत हैं सब संत

हम वासी उस देश के, (जहाँ) जाति वरन कुल नाहिं
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं
हम वासी वा देश के, (जहाँ) पारब्रह्म का खेल
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती, बिन तेल

इसे ही कबीर ने अनेक प्रकार से कहा। इस आनन्द के देश की कथा ही अनिर्वचनीय है—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गँभीर
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर

गगन-मण्डल के बीच में तहवाँ झलकै नूर
निगुरा महल न पावई, पहुँचैंगे गुरुपूर

गगन गरजि अमृत चुवै, कदली-कँवल प्रकास
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निज दास

गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना, उदय औ' अस्त का नाम नाहीं
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये, प्रेम परकास के सिंधु माहीं
सदा आनंद दुख दंद व्यापै नहीं, पूरनानंद भरपूर देखा
भर्म औ' भ्रांति तहँ नैक आवै नहीं, कहैं कबीर रस एक देखा

इसी देश को कबीर "साँई की नगरी" कहकर अद्भुत रूप से माधुर्य की सृष्टि करते हैं—

नैहरवा हमकों नहिं भावै
साईं की नगरी परम सुन्दर, जहाँ कोइ जाइ न आवै
चाँद सुरुज पवन न पानी, को संदेश पहुँचावै
दरद यह साँई को सुनावै
आगे चलौं पंथ नहिं सूझै, पीछे दोष लगावै

केहि विधि ससुरे जाँव मोरी सजनी, विरहा जोर जनावै
विषै रस नाच नचावै
बिन सतगुरु अपने नहिं कोई, जो यह राह बतावै
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै
तपन यह जिय की बुझावै

अद्वैतावस्था की जिस आनन्दस्थिति का वर्णन उपनिषदों ने किया है, उसे ही कबीर लगभग उन्हीं शब्दों में कहते हैं

मोतिया बरसैं रौरै देशवा दिन-राती
मुरली-शब्द सुनि मन आनन्द भयो, जोति बरै दिन राती
बिना मूल के कमल प्रगट भया, फुलवा फुलत भाँति-भाँती
जैसे चकोर चंद्रमा चितवै, जैस चातक स्वाती

(शब्दावली)

इस अद्वैतावस्था के आनन्द और इसके अभाव में साधक की दुखमय मनःस्थिति का वर्णन करने के लिए कबीर ने पति-पत्नी के विरह और मिलन के सुख-दुख का रूपक खड़ा किया है। आत्मा जब तक इस "संसार" में लगी हुई है, इंद्रियों के मायाजाल में लिप्त है, तब तक वह नैहर ही में है। तब तक उसे वियोग-जनित दुःख है। वही विरहिणी है—

कैसे जीवेगी विरहिनी पिया बिन कीजै कौन उपाय
दिवस न भूख रैनि नहिं सुख है, जैसे कलियुग जाय
खेलति फाग छाँडि चलु सुन्दर तजु चलु धन औ' धाम
बन-खंड जात नाम ले जावौं मिलि पिय से सुख पाय
तलफत मीन बिना जल जैसे, दरसन दीजै धाय

इस विरहिणी आत्मा के दुःख को कबीर अनुभूति की सचाई से व्यक्त करते हैं। यह दुःख की अनुभूति (जिसे विरह की साधना भी कहा गया है) ही प्रिय को पहचानने का एकमात्र मार्ग है। इसी से भक्त-कवि इसका वर्णन करते नहीं थकते। कबीर कहते हैं—

अँखडियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि-निहारि
जीभडियाँ छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि
नैना नीझर लाइया रहट बसै निस-जाम
पपीहा ज्यूँ पिव-पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम

इस विरह के साधक (रामभक्त) की व्याकुलता का क्या पूछना ! चकवी को प्रभात होने पर मिलने की आशा तो बनी है, परन्तु इस दुखी के लिए तो दिन-रात एक जैसे हैं—

चकवी बिछुरी रैणि की, आइ मिली परभाति
जे जन बिछुरे राम से, ते दिन मिले न राति
बासरि सुख ना रैण सुख, ना सुख सपनै मांहि
कबीर बिछुड्या राम सूँ ना सुख धूप की छाँह

जब "निर्गुण" के प्रति इस विरहिणी के अभिसार और पथ की कठिनाइयों की कबीर वर्णन करते हैं, तो उसमें आलंबन की रहस्यमयता के कारण अस्पष्टता आ ही जाती है। इसे ही रहस्यवाद कह दिया जाता है—

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूँदन
आरती साज के चली है सुहागिन
प्रिय अपने को ढूँढन
मिलन कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय
समझि सोचि पग धरौं जतन से,बार बार डिग जाय
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय
लोकलाज कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय

परन्तु यदि हम यह भली भाँति समझ लें कि यह रूपक है और यह अभिसार वास्तव में मन और हृदय के भीतर होता है तो हम रहस्यवाद की कुञ्जी पा लेंगे। स्वयं कबीर अभिसार-पदों के अंत में रूपक को खोल देते हैं—

पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी
पाँव नहीं ठहराय चढ़ूँ गिरि गिरि परूँ
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ
अंग अंग थाक्यो तो केहि बिधि डरि रहूँ
करम-कपाट मग फेरि तो भ्रमि में परि रहूँ
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है
छोरो कुमति विकार सुमति गहि लीजियै
सतगुरु शब्द तुम्हार चरन चित दीजियै
अन्तर पट दे खोल शब्द उर लाव री
दिल बिच पिया कबीर मिलैं तोहिं बावरी

अभिसार का अंत है ब्रह्म की प्राप्ति। कबीर अभिसारिका के रूपक को ही आगे बढ़ाते हैं—

ऐ अँखियाँ अलसानी हो पिया सेज चलो
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यो पिया बिना कुम्हलानी
धीरे पाँव धरौ पँलगा पर जागत ननद-जिठानी
कहत कबीर सुनो भई, साधो, लोकलाज बिछलानी

इस मिलन-सुख का तो वर्णन हो ही नहीं सकता। भक्त के लिए तो वह कौतुक है—

कबीर तेज अनंत का मान ऊगी सूरज सेणि
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिक दीठा तेणि
अविनासी की सेज का कैसा है उनमान
कहिबै को सोभा नहीं देखे ही परमान
अविनासी की सेज पर केलि करे आनंद
कहै कबीर वा सेज पर विलसत परमानन्द

इस मिलन की अनिर्वचनीयता को भली भाँति समझ कर ही समझाने की चेष्टा करते हुए कबीर ने उलटबाँसियों का आश्रय लिया है और चमत्कार प्रगट करने के लिए चमत्कारपूर्ण प्राकृतिक संघटनों की सृष्टि की है। कहना यही है कि जीव-ब्रह्म, असीम-ससीम के मिलन का आनन्द अलौकिक घटना है जो अनुभव का विषय है, कहने-सुनने की बात नहीं।

यही अनिर्वचीय अनुभव "रहस्यवाद" कहा जा सकता है। परंतु सचमुच रहस्यवाद क्या है, यह कहना कठिन है। पश्चिम के कुछ विद्वानों ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार की है—

"Mysticism in the type of religion which puts the emphasis in immediate awareness of relation with God, on direct intimate consciousness of the Divine Presence. It is religion in its more accute, intense and living stage." (R. M. Jones)

"Persons who have been face to face with God, who have heard His voice and felt His presence (are mystics.)" (Taylor)

"Christian mysticism in the doctrine, or rather the experience of the spirit—the realisation of human personality as characterised by and consummated in the indwelling reality, the will of Christ which is God." (Canon R. C. Moberly)

"There are times where powers and impressions out of the course of mind's normal action and words that seem spoken by a voice from without, messages of mysterious knowledge, of counsel or warning, seem to indicate the intervention, as it were, of a second soul (This is mystic experience) (attitude of C. F. Andrews Summed up by the "Leader" in its leader of Jan. 4, 1939).

कबीर का रहस्यवाद इसी श्रेणी का अनुभव उपस्थित करता है। उसकी सचाई में संदेह नहीं किया जा सकता। जब कबीर कहते हैं—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गँभीर
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर

या

करत कल्लोल दरियाव के बीच में
ब्रह्म की छोल में हंस झूलै
अर्ध औ ऊर्ध्व की पेंग बाढ़ी तहाँ,
पलट मन पवन को कँवल फूलै
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै
होत झनकार नित बजत तूरा
वेद कितेब की गम्य नाहीं तहाँ
कहैं कबीर कोइ रमै सूरा
(शब्दावली, पृ० १०४)

या

वै दिन कब आवैंगे माइ
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगाइ
हौं जानूं जे हिलिमिलि खेलूं, तन-मन-प्रान समाइ
यां कामना करौ परिपूरन, समरथ हौ रामराइ

या

अब तोहिं जान न दैहूँ राम पियारे
ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे ॥ टेक ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये
चरननि लागि करौ बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै, कहैं कबीर परहु मत धोखे

या

माई रे अद्भुत रूप अनूप कथौ है, कहौं तो को पतियाई
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई सब घट रहा समाई
लख बिनु सुख दखि बिनु दुख है नींद बिना सुख सोवै
जरु बिन ज्योति रूप बिन आसिक, रान बिहूना रोवै
भ्रम बिनु गंजन मनि बिनु निरखै, रूप बिना बहु रूपा
स्थिति बिनु सुरति रहस, बिनु आनन्द ऐसा चरित अनूपा

तो हम उनकी अनुभूति को समझ नहीं पाते, क्योंकि वह तर्क का विषय नहीं है, ज्ञान का विषय है। ऐसी अनुभूति को समझने के लिए स्वयं को अनुभूति की इतनी ही ऊँची भूमि पर उठा होना चाहिये। हम तो यही कर सकते हैं कि कबीर की साक्षी पर उनकी अनुभूति की सत्यता में विश्वास करें।

फिर भी हमें यदि कबीर के रहस्यवाद का आग्रह ही हो तो हमें उनकी रचनाओं में दो श्रेणियों का रहस्यवाद मिलेगा—(१) उपनिषदों का रहस्यवाद या वेदांती रहस्यवाद और (२) योग का रहस्यवाद जिसका आधार पिंड में ब्रह्मांड की स्थिति है। अद्वैतमूलक रहस्यवाद में आत्मा को विरहिणी, प्रोषितपतिका या आगतपतिका के रूपों में चित्रित किया गया है और उसके हर्ष-विषाद को उपस्थित किया गया है। यहाँ अरूप में रूप की योजना है। आलंबनों की सूक्ष्मता और रूपक की स्थूलता के कारण काव्य में अस्पष्टता आ जाती है। इसे हम रहस्यवाद कहते हैं। अनन्त की सेज ही क्या! परंतु जब कबीर कहते हैं—

ऐ अँखियाँ अलसानी हो, पिया सेज चलो

तब अस्वीकार करने को कुछ नहीं रह जाता। जब भक्त कबीर की आत्मा विरहाकुल हो पुकार उठती है—

ऋतु फागुन नियरानी हो
कोइ पिया से मिलावे

तब हम भी दुखी हो जाते हैं—उनकी "अकथ कहानी" हमारी अंतरात्मा को झकझोर डालती है। परन्तु दूसरे प्रकार का रहस्यवाद योग के प्रतीकों को लेकर चलता है। ये योग के प्रतीक हैं चक्र भेद कर कुण्डलिनी का सहस्रार में पहुँचना, अमीरस का स्राव और उससे उन्मनी अवस्था की प्राप्ति। इस श्रेणी के रहस्यवाद का कबीर को व्यक्तिगत अनुभव था या वे नाथों के अनुभव की परंपरा की ही रक्षा करते रहे, निश्चित रूप से कहना कठिन है। एक ही समय दो प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूतियों की साधना करने वाला मनुष्य अद्‌भुत होगा। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कबीर अद्‌भुत थे। इस दूसरी श्रेणी के रहस्यवाद की कुंजी वे प्रतीक हैं जिनका हम आगे उल्लेख करेंगे। परन्तु हमको यह समझ लेना चाहिये कि भारतीय साधना सदैव ही व्यक्तिगत रही है और परम्परागत पारिभाषिक शब्दों से व्यक्ति की भीतरी साधना को टटोला भर ही जा सकता है।

कबीर के रहस्यवाद में वैष्णव और सूफ़ी भावना भी बहुत कुछ मिली हुई चलती है। विरह को साधना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। परन्तु कबीर इस विरह की साधना को भित्ति ज्ञान को मानते हैं। गुरु-द्वारा ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होती है जिससे प्रेम की आग लगती है। वास्तव में यह ज्ञान की साधना योग की साधना से भिन्न है। इसी विरह की साधना को कबीर 'रस' (हरिरस = भक्ति) कहते हैं। इसी निष्काम आनन्द भक्ति को उन्होंने निष्कर्मी पतिव्रत कहा है जिसमें भक्त आत्मसमर्पण की सीमा तक पहुँच जाता है। इसी विरह-भाव की अंतिम अवस्था को उन्होंने 'लव' कहा है। इस विरह की साधना को ही कबीर 'सहजमार्ग' कहते हैं। वास्तव में जिस मार्ग में भी हरि मिल जाय वही सहज है—

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ
जिन सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ

परन्तु फिर भी विषय का त्याग प्रारंभिक बात है। इसी से कबीर फिर कहते हैं—

सहज सहज सब को कहैं, सहज न चीन्है कोइ
जिए सहजैं विषया तजी सहज कहीजै सोइ

इसी साधनामार्ग से अद्वैतावस्था की प्राप्ति होती है—

एकमेक है मिलि रह्या दास कबीरा राम

इस निर्गुण ब्रह्म को ही कबीर राजा राम, नरहरि, निरंजन, केशव, करीम, अल्लाह, नन्दनन्दन, हरि, खालिक, सतगुर, आदि नामों से पुकारते हैं, परन्तु राम नाम उन्हें विशेष प्रिय है। विशिष्ट नाम के अभाव में नामस्मरण हो ही नहीं सकता और जहाँ भक्ति-भावना है वहाँ रूप न सही, नाम का सम्बन्ध तो अवश्य ही है। परन्तु कबीर आग्रह-पूर्वक बार-बार बताते हैं कि इन नामों के पीछे जो अवतार-भावना है वह उन्हें मान्य नहीं है। सब नाम उनके निर्गुण या निर्गुण से भी परे (अकथ ?) चित्सत्ता के प्रतीक मात्र हैं। भावना को दृढ़ करने के सिवा इनकी कोई विशेष उपादेयता नहीं। परन्तु विरहासक्ति के लिए नाम का सहारा तो चाहिये ही। परन्तु कबीर प्रचलित नाथ-पंथी योगमार्ग से कुछ सहारा लेते हैं। यहाँ भी वे वाह्याडंबरों का बहिष्कार कर देते हैं—

जोगिया तन को तंत्र बजाइ
ज्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ
तत करि ताँति धर्म करि डाँडी सत की सारि लगाइ
मन करि निहचल आसण निहचल, रसना रस उपजाइ
चित कर बरबा तुचा मेखली, भेसमैं भसम चढ़ाइ
तजि पाखंड पांच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ
हिरदै सींगी ग्याँन गुणि बाँधौ खोजि निरंजन साँचा
कहै कबीर निरंजन की गति जुगति बिना स्यंद काचा

यही नहीं, वे सारे योग को मन की साधना बना देते हैं और इस प्रकार सहज योग की प्रतिष्ठा करते हैं—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा,
　　राति दिवस न करइ निद्रा ॥ टेक ॥
मन मैं आसण मन मैं रहणाँ मन का जपतप मन सूँ कहणाँ
मन मैं सपराँ मन मैं सींगी, अनहद बेन बजावे रंगी
पंच परजारि भस्म कर भूका, कहै कबीर ते लइसैं लंका

"अवधू" (अवधूत) के प्रति संबोधन वाले पदों में कबीर ने प्रचलित योग के सामने इसी सहज योग की प्रतिष्ठा की है—

सो जोगी जाकै सहज भाइ, अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनहद सींगी नाद काम क्रोध विषिया न बाद
मन मुद्रा जाकै गुरु कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट मैं धरत बखान
मनहीं करन कौ करै सनाँन, गुर कौ सबद लेले धरे धियान
काया कासी खोजै बास, तहाँ जोति स्वरूप भयौ परकास
ग्यांन मेषली सहज भाइ, बंक नाल कौ रस खाइ
जोग मूल कौ देइ बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद

इतना सब होते हुए भी वे नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्दों और सहज क्रियाओं को ग्रहण कर लेते हैं—

आत्मानंदी जोगी, पीवै महारस अमृत योगी ॥टेक॥
ब्रह्म अगिनि काया पर जारी, अजपा जप उनमनी तारी
त्रिकुट कोट मैं आसण मांडे, सहज समाधि विषै सब छाँडै
त्रिवेणी-विभूति करै मन मंजन, जन कबीर प्रभु अलख निरंजन

अवधू, जोगी जग थैं न्यारा
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न षंडै धारा ॥टेक॥
बसै गगन में दुनी न देखे, चेतनि चौनी बैठा
चढ़ि अकास आसण नहीं छाजै, पीवै महारस मीठा

परगट कंथा मांहै जोगी दिल में दरपन जोवै
हंस इकीस छसै धंगा निहचल वाके पीवै
ब्रह्म अगिनि मैं काया जारै त्रिकुटी संगम जागै
कहै कबीर सोई जोगेश्वर सहज सुन्नि ल्यौ लागै

वास्तव में कबीर के निकटवर्ती प्रदेश में योगमत के अनुयायी बसे हुए थे। कबीर ने उनके सामने उनकी ही परिभाषा में योग का एक नया परिष्कृत रूप रखा। वास्तव में यह कबीर का 'सहज मत' ही था। बाह्याचार का खण्डन तो पहले ही था, यहाँ जो योग की आंतरिक साधना थी, उसे नया रूप देने का प्रयत्न किया गया—

अवधू, मेरा मन मतिवारा

उनमनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा
गुड़ करि ध्यांन, ध्यांन कर महुवा, भव भाठी कर पारा
सुषमा नारी सहज सयांनी, पीवै पीवन हारा
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई माठी, चुआ महारस भारी
काम-क्रोध दोइ दिया फलीता छूटि गई संसारी
सुनि मंडल मैं मंहला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै
गुरुप्रसाद अमृतफल आया, सहज सुषमना काछै
पूरा मिला तबै सुख उपज्यौ, तन की ताप बुझानी
कहै कबीर भव-बंधन छूटै, जोतहि जोति समानी

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने सब प्रचलित धाराओं के वाह्याचारों का विरोध किया और उन्हें उनके मूल रूप की ओर आकर्षित करना चाहा जिसमें मतभेद नहीं था। संक्षेप में, हम कबीर-मत को इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) अद्वैतमत—कबीर अद्वैत को मानते हैं। माया की सत्ता में भी उन्हें विश्वास है। एक तरह उनका ज्ञान और उपदेश शांकर अद्वैत ही है। जीव और ब्रह्म एक ही हैं। माया ने भेद डाल दिया

है। इस भेद को मिटाने पर अभेदावस्था की प्राप्ति संभव है। अद्वैत के ब्रह्म की भाँति कबीर का राम सूक्ष्म, निर्गुण या गुणातीत निराकार और निर्लिप्त है।

(२) विशिष्टाद्वैत—कबीर विशिष्टाद्वैत की भाँति द्वैतसत्ता तो नहीं मानते परन्तु भक्ति को स्वीकार करके साधनावस्था की चरमसीमा तक पहुँचने तक अद्वैत भाव लेकर चलते अवश्य हैं। वास्तव में शांकर अद्वैत में भी भक्ति को स्थान मिला है। इस प्रकार की भक्ति 'निर्गुण भक्ति या ज्ञानाश्रयी भक्ति' या 'अद्वैतभक्ति' कहलाती है। कबीर राम को मानते हैं परन्तु निर्गुण अर्थों में दाशरथि राम उन्हें अमान्य हैं।

(३) कबीर राम, कृष्ण, गोविन्द हरि—कितने ही नाम लेकर उनका समानार्थक रूप से निर्गुण ब्रह्म के लिए प्रयोग करते हैं। नाम की महिमा उन्होंने भी उतनी ही मानी है, जितनी भक्त-संप्रदायों ने। इसी प्रकार गुरु की महिमा भी बड़ी है। गुरु से ही तो नाम और ईश्वरज्ञान की प्राप्ति प्रोती है। तुलसी ने कहा है—"ब्रह्म राम से नाम बड़'। कबीर भी मानते हैं।

(४) सूफ़ियों की विरह-साधना उन्हें स्वीकार है। वास्तव में रागानुगा भक्ति और सूफ़ियों की विरहसाधना में बहुत भेद भी नहीं है। वैष्णव धर्म में भक्ति का वही स्थान है जो सूफ़ी मत में विरह (इश्क) का। इसी से कबीर की वैष्णव भावना से इसका विरोध नहीं पड़ता।

(५) कबीर योग की आभ्यंतरिक साधना को स्वीकार कर लेते हैं एवं नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्दों को भी मान लेते हैं। वैष्णव भावना के बाद कबीर के मतवाद में योग को ही स्थान मिला है। परन्तु उनका झुकाव सहज योग की ओर ही अधिक है। कुण्डलिनी सुषुम्ना आदि के संबन्ध में बहुत कहा गया है, परन्तु जो कहा गया है वह कोई महत्त्वपूर्ण तात्विक अर्थ नहीं रखता।

इस दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि कबीर की सारग्रहिणी प्रवृत्ति ने मध्ययुग की समस्त मुख्य धार्मिक धाराओं को आत्मसात

कर एक सामान्य भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है जो वाह्याचारों और जातिभेद से ऊपर उठकर सब मनुष्यों के लिए एक समान उपादेय है। परन्तु स्वयं वैष्णव धर्म इस प्रकार एक सामान्य धर्म स्थापित कर रहा था। अतः उसमें और कबीर के मतवाद में अधिक भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि वैष्णवमत सगुणोपासना को स्वीकार करता है, योग की साधना को किसी भी रूप में नहीं मानता, बल्कि उसका बराबर विरोध करता है जैसा कृष्ण-काव्य के भ्रमरगीतों से प्रकट है। इसके अतिरिक्त वैष्णवमत शास्त्रों और पुराणों का सहारा लेता हुआ चलता है। सगुणोपासना के कारण वैष्णव मत में रूपासक्ति, अवतारवाद, कर्मकांड (नित्य और नैमित्तिक पूजा-कर्म), मूर्तिपूजा आदि कितने सो ऐसे विषय हैं जो कबीर को मान्य नहीं हैं। परन्तु दोनों एक ही प्रकार आचार-प्रधान हैं, अहिंसक हैं, गुरु-महत्ता दोनों में एक सी है, भक्ति एक रूप में स्वीकृत है, नाम-माहात्म्य और नामस्मरण एक ही प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं।

कबीर के अतिरिक्त रामानन्द के कुछ अन्य शिष्यों की बानियाँ भी प्राप्त हैं। उनसे यह स्पष्ट सो जाता है कि कबीरमत कबीर का सोलह-आना मौलिक मत नहीं था। अन्य शिष्यों में भी इसी प्रकार की विचारधारा मिलती है। वे सब "निर्गुणिये" हैं—निर्गुण राम के भक्त। तीर्थव्रतादि वे नहीं मानते। सहज-सुन्न आदि योगपंथ के शब्दों का वह प्रयोग करते हैं और नाथपथियों के (कलाली आदि) मद्यपान को साधना के व्यक्त करने का ढंग बताते हैं। रैदास स्वयं कहते हैं—

देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ॥टेक॥
हेरे कलालो तैं क्या कीया, सिरका सा तैं प्याला दिया
कहे कलालो प्याला देऊँ, पीवन हारे का सिर लेऊँ
चंद सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला मरै न कोई
सहज सुन्न में भाठी राखै, पीवैं रैदास गुरुमुख दाखै

इन सब में योगपंथ और वैष्णवमत का सामञ्जस्य है। रामानन्द का प्रचार-केन्द्र काशी था। उनके शिष्यों का योगमत के प्रभाव से बचा रहना असंभव था जो उनके समय में सबसे बलशाली था। कबीर को छोड़ कर अन्य में सूफ़ी-भावना का मिश्रण लगभग नहीं है। कबीर में थोड़ी मात्रा में सूफ़ी भावना मिलती है यद्यपि वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

परन्तु जैसा रानाडे ने अपने रहस्यवाद संबंधी ग्रंथ में कहा है निर्गुण रहस्यवादी भावना में सबसे पहले नामदेव का नाम आता है—

आपुन देव देहरा आपुहि आप लगावै पूजा
जल ते तरँग तरँग ते है जल कहन सुनन को दूजा
आपुहि गावै, आपुहि नाचै, आपु बजावै तूरा
कहत नामदेव मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा

इसके बाद हमें स्वयं रामानन्द का एक पद मिलता है जिसमें निर्गुण रंग स्पष्ट है—

कस जाइये रे घर लायो रंग
मेरा चित न चलै मन भयो चंग
एक दिवस मन भई उमंग
घसि चौआ चंदन बहु सुगंध
पूजन चली ब्रह्म ठाँय
सो ब्रह्म बतायो गुरु मनहिं माँहि
जहँ जाइयो तहँ जल परवाँन
तू पूर रह्यो है सब समान
वेद पुरान सब देखे जोय
उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होय
सतगुरु मैं बलिहारी तोर
जिन सकल विफल भ्रम काटे मोर

रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म
गुरु का सबद काटे कोई बरम

रामानन्द से शिष्य पीपा का एक पद है—

काया देवल काया देवल काया जंगम जाती
काया धूप दीप नैवेद्य काया पूजों पाती
काया बहु खंड खोजने नव निद्धी पाई
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दुहाई
जो ब्रह्मण्डे सोइ पिंडे जो खोजे सो पावै
पीपा सुनवे परम तत्त्व ही सतगुरु होय लखावै

यह "पिंड में ब्रह्मांड" की खोज निश्चय ही योग और उपनिषद की विचारधारा है जो निर्गुण रहस्यवादी भावना का बीज मंत्र है। ब्रह्म घटघटव्यापी है, वहीं उसको प्राप्ति हो सकती है, अतः भटकना भ्रम है। योग की कुण्डलिनी को जगाने और सहस्रार तक पहुँचने का सारा ढाँचा इसी 'काया-मद्धे ईश्वर वास' सिद्धांत पर खड़ा है। इसी निर्गुण को योग में 'निरंजन' और 'अलख निरंजन' आदि कहा है।

नामदेव के पद से स्पष्ट है कि संत मत की प्रधान भावना का जन्म महाराष्ट्र में हुआ। नामदेव से पूर्व महाराष्ट्र नाथपंथियों का अखाड़ा था। ज्ञानदेव गाहिनीनाथ के शिष्य थे जो गोरख की पाँचवीं शिष्य-परम्परा में थे। अतः इस प्रदेश में निर्गुण ब्रह्म (रहस्यवाद) की भावना चल रही थी। परन्तु नामदेव में योगपंथ का शुद्ध रूप नहीं है। उसमें भक्ति की भावना भी है। यद्यपि नामदेव के सगुणोपासना संबन्धी पद मिलते हैं जैसे

दशरथराय नंद राजा मेरा रामचंद्र
प्रणवै नामा तत्त्व अमृत पीजै

रामानन्द इसी प्रदेश से भक्ति-भावना को उत्तर ले गये। अतः वे योग पंथ के सामान्य वातावरण से प्रभावित थे। रामानन्द के गुरु राघवानंद

की एक पुस्तिका 'सिद्धांत पंचमात्रा' हमें प्राप्त है। इसमें हमें योग और भक्ति के बीच की परिस्थिति मिलती है। इसमें योगियों (जोगियों) के व्यवहार और भेष का विरोध या निषेध नहीं वरन् अनुरोध है। उसके साथ ही इंद्रियनिग्रह की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है। योगी के मन के धैर्य और ब्रह्मचर्य जीवन इसके लिए आवश्यक बताये गये हैं। सन्तोष जोगी जीवन के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता है। सांकेतिक-रूप से हठयोग का पूरा विधान इस पुस्तिका में है। हठयोग का चरमोद्देश्य सूर्यचन्द्र (प्राणापान, इला-पिंगला) समागम है जिससे समाधि की अवस्था में पहुँचकर नाद, शब्द और ज्योति इस प्रकार त्रिधा योगानुभूति होती है—

चन्द्रसुरज जमी असमान तारा मण्डल भये प्रकास
आवुन जोगी यह झुनकार
सुन गगन म ध्वजा फहराई पुछो सबद भयो प्रकास
सुन लो सीधो सबद का बासा

परन्तु साथ ही वैष्णव धर्म सम्बन्धी बातों का भी समावेश है। द्वादश अक्षर, मन्त्र, तिलक, तुलसी-माला, सुमरनी, आरती, अर्घ्य और चरणामृत का भी विधान है। डा० बड़थ्वाल का निष्कर्ष है "जिस समय दक्षिण से आकर श्रीमद्आचार्य रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उस समय वहाँ योग-संप्रदाय का बहुत प्रसार था। इस नवीन भक्ति के प्रभाव में योग-संप्रदाय के बहुत से लोग आ गये। परन्तु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गये थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिए हमें रामानंद, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का पूर्ण समन्वय मिलता है।"

जान पड़ता है, १२०० ई० के बाद योग (नाथपंथ), संत (संतमत) और भक्ति की धारा में विशेष अंतर नहीं रह गया।

संप्रदाय-भेद अवश्य था, परंतु वाह्याडम्बरों के विरोध और भक्ति पर बल देने के कारण ये धारायें पास-पास आ रही थीं। गोरखनाथी योगियों और संतों के बीच की एक विचारधारा निरंजनी विचारधारा है। 'कुछ निरंजनी संतों की वाणियाँ' शीर्षक अपने लेख में डा० पीतांबर-दत्त बड़थ्वाल ने इस धारा की ओर इंगित किया है। सिद्ध, नाथ और निर्गुण धाराओं की भाँति यह भी आध्यात्मिक धारा है। निरंजनी कवियों ने "अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को सरल और स्वाभाविक सौन्दर्यमय गीतों में विकास दिया है। ये गीत बड़े ही चित्ताकर्षक हैं। × × निरंजनियों में भी (आत्मदर्शन तक) पहुँचने का मार्ग निर्गुणियों की भाँति उल्टा मार्ग या उल्टी चाल कहलाता है। मन की वर्हिभाव प्रवृत्तियों को—जो जीव को सांसारिक बन्धन में डालने का कारण होती हैं—अंतमुंखी करना, उनके अनुसार, परम आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, रस की प्रक्रिया को प्रतिसंचर में परिणित कर देने पर भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसलिए हरिदास ने उल्टी नदी बहाने को कहा है और सत्य के खोजी को उल्टा मार्ग पकड़ने का उपदेश दिया है। सेवादास के अनुसार अलख को पहचानने के लिए उल्टा गोता लगाना आवश्यक है। ऐसा करने से आत्मा धीरे-धीरे गुण, इंद्रिय, मन और वाणी से अपने आप परे हो जायगी। और तुलसी कहते हैं कि जब साधक अपने भीतर की ओर लौटता है तभी वह अध्यात्म-मार्ग से परिचित होता है।

निरंजनियों का यह उल्टा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योगमार्ग के ही समान है। निर्गुणियों की सारी साधना पद्धति उसमें विद्यमान है। निरंजनियों का उद्देश्य है इड़ा और पिंगला के मध्यस्थित सुषुम्ना को जागरित कर अनाहत नाद सुनना, निरंजन के दर्शन प्राप्त करना और बंकनालि के द्वारा शून्य मंडल में अमृत का पान करना। जो साँच की डोरी उन्हें परमात्मा से जोड़ती

है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण में प्रेम और योग का पूर्ण समन्वय है। साधक को उसमें अपना अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी के अभ्यास का विधान है, जो गोरख-पद्धति तथा गीता की भ्रूमध्य-दृष्टि के सदृश है। इस साधना-पद्धति पर—जिसमें सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वास-निःश्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है— निरंजनियों ने बार-बार ज़ोर दिया है। इसकी अंतिम अवस्था अजपा जाप है जिसमें श्वास-प्रश्वास के साथ स्वतः सतत नामस्मरण होने लगता है।

निरंजनी कविता में प्रेमतत्त्व का महत्त्व योग-तत्त्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इन्द्रियों का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है। और शमन में प्रेम-तत्त्व ही से सफलता प्राप्त होती है। इस तत्त्व की अवहेलना करने वाले साधकों को हरिदास ने खूब फटकारा है। प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पत्नी की भाँति) अपनी आत्मा को परमात्मा (अपने पति) के चरणों में निःस्वार्थ भाव से अर्पित कर देता है, तभी (प्रियतम परमात्मा से) महामिलन होता है।[1] इन सब निरंजनी कवियों ने विरह से दुःखी प्रिया की भाँति अपने हृदय की व्यथा प्रकट की है। तुरसीदास के अनुसार यही प्रेम-भावना प्रत्येक आध्यात्मिक साधना-पथ की प्राण होनी चाहिये। इसके विद्यमान रहने

---

१ सुरति सुहागिणि नारि, बस्यो ब्रह्म भरतार।
ध्यान दिसा चितवै नहीं, सोधि लियो करतार॥
(सेवादास)

कोउ बूझौ रे बाँचना, जोसी कहि कब आवै राम।
विरहिन झूरै दरस कूँ, जिय नाहीं विश्राम॥
ज्यूँ चात्रिग घन कूँ रटै पीव पीव करे पुकार।
यूँ राम मिलन कूँ विरहिनी तरफै बारम्बार॥
(तुरसीदास)

से प्रत्येक मार्ग सच्चा है, किन्तु इसके अभाव में हर एक पथ निस्सार है।

निरंजनियों ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियों की ही सी भाषा में किया है। सफल साधना-मार्ग के अंत में साधक को अनंत प्रकाश पुंज की बाढ़-सी आती दिखाई देती है जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल झिलमिल ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है।[२] इस सहजानुभूति के हो जाने पर सभी बाहरी विरोध मिट जाते हैं। स्वयं यह अनुभूति भी उलटी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है। हरिदास के कथनानुसार गुरु-शिष्य की अन्तर्ज्योति को अनन्त सूर्यों के प्रकाश से मिला देता है।[३] सेवादास झिलमिलाती ज्योति का दर्शन त्रिकुटी में करते हैं। इन्हीं के शब्दों में सहजानुभूति बिना घन के चमकने वाली बिजली है, बिना हाथ के बजने वाली वीणा है, बिना बादलों के होने वाली अखंड वर्षा है। और तुरसी के शब्दों[४] में आध्यात्मिक अनुभूति बहरे की ऐसी गुप्त बात सुनना है जिसमें जिह्वा और मुँह काम नहीं आते। वह लँगड़े के ऐसे पेड़ पर चढ़ने की भाँति है जिसपर पैर वाले नहीं चढ़ सकते। वह अंधे के प्रकाश को देखने के समान है।"

ऊपर निरंजनियों के जिन सिद्धांतों का वर्णन किया गया है उनसे प्रकट है कि निरंजनियों और निर्गुण में सिद्धांतों और साधनाओं में बहुत कुछ साम्य है। वास्तव में उपनिषदों, योगियों, संतों और निरंजनियों की निर्गुण ब्रह्म की रहस्यवादी साधना में अनेक बातों का आदान-प्रदान चलता है। समय-प्रवाह के कारण पारिभाषिक

---

२ नैना माहीं रामजी झिलमिल ज्योति प्रकास।
त्रिकुटी छाजा बैठि करि को निरखै निज दास॥

३ अनन्त सूर निकट जोति लावै।

४ बहरा गुझि बानी सुनै सुरता सुनै न कोय
तुरसी जो बानी अघट मुख बिनु उपजै सोय॥

शब्दों के अर्थों में थोड़ा-बहुत भेद चाहे हो गया है, इसमें कुछ संदेह नहीं कि इन साधनाओं में अनेक शब्द एक ही हैं। इनका सांकेतिक अर्थ समझे बिना निर्गुण रहस्यवादी साधना को समझना ही असंभव है। योगसम्बन्धी कुछ संकेत (प्रतीक) इस प्रकार हैं—

१—ॐ—शब्द, पवन, साँस, जीव, सुर, सूर, ससा, चंद, नाद, स्यंघ, स्थल।

२—इड़ा—योगनाड़ी, चन्द्रमा, इला, गंगा, वरुणा।

३—चंद्रमा—इलानाड़ी, आज्ञाचक्र में स्थित अमृत प्रस्रावक चंद, चोर, चूल्हा, चक्की, चरखा।

४—पिंगला—जमुना, असी, सूर्यनाड़ी।

५—बंकनालि—सुषुम्ना, मेरुदंड।

६—मानसरोवर—सुन्न में स्थित अमृत कुण्ड।

७—मूल—परमात्मा, मूलाधार चक्र, मूल प्रकृति।

८—शब्द—गुरु की शिक्षा, सिचान, फज़ीता, कूँची, बाण, भस्म, निर्भय वाणी, अनहद वाणी, Logos.

९—शरीर—पिंड, घन, आकार, बन, पृथ्वी, समुद्र, बंककूप, योम, घाड़, गोकुल, वृन्दावन, वेलि, बबूतनी, पुतला, कलि, अस्थूल, देहरा, महल, मसीत, व्याबर, परिवार, चादर।

१०—सुमिरण—जाप, डोरी, ताँत, लौ, धूरि, बजन

११—सुसमन—सरस्वती, सुषुम्ना नाड़ी, बंकनालि।

१२—सूरज—पिंगला नाड़ी, मूलाधार चक्र में स्थित प्रस्रावक सूर्य

१३—भँवरगुफा—हृदयपद्म में स्थित ब्रह्म, ब्रह्मरंध्र, सुन्न इत्यादि

१४—चित्त—भ्रमर, अग्नि।

१५—मन—मत्त गजेन्द्र, खग, पारद, हरिण।

१६—अन्तःकरण—हरिण।

१७—वायु—सिंह, गज, व्याघ्र।

१८—नाद—अहेटो, गंधक, काष्ठ ।

१६—उन्मनी—कल्पबेलि ।

२०—कुण्डलिनी—कुटिलांगि, बालरण्डा, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, अनुरंभती ।

२१—मूलाधार पद्म—सूर्य ।

२२—ब्रह्मरंध्र—चंद्र, त्रिवेणि, कूप, गगन-मंडल । संत काव्य में इस सांकेतिक शब्दों की संख्या और भी बढ़ी-चढ़ी है । यह कहना कठिन है कि इन प्रतीकों के पीछे कवि की स्वानुभूति कहाँ तक छिपी है और कहाँ तक केवल परंपरा का पालन है । यह कहना कठिन है कि कबीर एवम् अन्य संतों ने इन शब्दों का प्रयोग शैली मात्र के लिए किया है । उनके अनेक पदों में कुण्डलिनी को साधना, ध्यान-धारणा-समाधि आदि का अनुभूतिपूर्ण वर्णन है । संभव है, जैसा पं० हज़ारी-प्रसाद द्विवेदी का मत है, यह प्रारम्भिक साधना के पद हों क्योंकि भक्ति और सहज साधना (सहजयोग) के पदों से इन पदों की सामग्री का मेल नहीं बैठता ।

इस योग की साधना की अपनी परंपरा है जो कदाचित् आर्यों के आने से पहले ही द्रविड़ देश में चल रही थी । इस साधना के आदि गुरु शिव हैं । मध्ययुग में सिद्धों की साधना के स्थान में हठयोग के रूप में इस साधना का पुनरावर्तन हुआ । परन्तु तब इस साधना को प्रतीकार्थ में ग्रहण किया गया । इस प्रकार साधना की भूमि को और भी ऊँचा उठा दिया गया । यह प्रतीकार्थ क्या थे ? सहस्रार में शिव का वास है । कुण्डलिनी (शिवा) शक्ति है । शिव-शिवा के मिलन से ही अद्भुत वैयक्तिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विस्फोट होता है । चक्र शक्ति-पीठ हैं । जैसे-जैसे शक्ति शिव के समीप आती जाती है वैसे-वैसे मनुष्य संसार के बन्धन से छूटता हुआ उन्नत होता जाता है । अंत में जब शिव-शिवा का मिलन होता है तो वह भी अद्वैतावस्था

को प्राप्त होता है । शिव हैं व्यापक शक्ति (असीम) । शिवा या कुण्डलिनी वह सीमित शक्ति है जो व्यापक शक्ति का अंश है और व्यक्ति में केन्द्रित है । पिंड में स्थित इस सीमित शक्ति को अपनी ही तरह की व्यापक शक्ति का परिचय मिल जाता है तो उसमें अपार बल आ जाता है । साधक अपने व्यक्तित्व को विराट व्यक्तित्व में डुबा देता है । वह सीमा के बन्धन से निकल कर असीम की बाँहों में जा पड़ता है ।

मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य यही है कि वह अपने व्यक्तित्व में एक विराट चेतना का आन्दोलन या स्पंदन अनुभव करे । कुण्डलिनी को जाग्रत करके सहस्रार में स्थित करने के प्रयत्न में रहे यही रहस्य है । साधक पिंड में बंदी महान् शक्तियों को उन्मुक्त करता है और वे ब्रह्मांड की शक्तियों को बलवती बनाती हैं और स्वयं उनसे चेतना, आनंद और बल प्राप्त करती हैं । योगी जानता है कि वीर्य, आत्मा (चेतनता) और मन की तीन महान् शक्ति-धारायें उसके शरीर में बह रही हैं । वह इसके उच्छृङ्खल, कभी-कभी विरोधी प्रवाह का नियमन या संयमन करना चाहता है । मन के संयमन के लिए हैं तर्क, मनस् (ध्यान को विषयों की ओर से रोकने की प्रक्रिया), ज्ञान, जप, उलट (मन की स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत जाना) । इनके द्वारा अन्त में साधक उन्मन की अवस्था को प्राप्त होता है । वह अहम् से बहुत ऊपर उठ जाता है ।

जिस चेतनता का विराट ब्रह्म में प्रवाह है और जो पिंड में प्राण रूप से व्याप्त है, उसको हम सत्, चित, आनन्द, रस, अमृत, ज्योति कुछ भी कह सकते हैं । जहाँ योगी मनस् या ध्यान के द्वारा मन को संयमित करता है, वहाँ प्राण-निरोध के द्वारा शरीर को पुष्ट और वीर्य का संयमन भी करता है । अन्त में वह समदृष्टि और असम-प्रगत्य समाधि की अवस्थाओं में से गुज़रता हुआ कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है । इसे हम 'तूर्यातीतावस्था' या 'शून्यावस्था' भी

कह सकते हैं। योगी अजपा जाप को सुनने लगता है। सुरत जाग्रत कर वह शब्द को सुनता है। इस साधना को चरपट ने 'आत्मयोग' कहा है। इसे हम 'हठयोग' के विरोध में 'राजयोग' कह सकते हैं।

संतों की योगसाधना लगभग यही राजयोग है। वही जप, ध्यान, नाद-संधान ब्रह्मचर्य या ऊर्ध्वरेतत्व, पंचमकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार), का त्याग समाधि आदि। यह अवस्था है कि उसमें आस्तिक भावना और भक्ति का भी मिश्रण हो गया है। नाथपंथ में जितनी महिमा शिव या गुरु की थी, कबीर के साहित्य में राम अथवा गुरु की महिमा-वन्दना उससे कम नहीं है। नाथपंथ भी ईश्वरवादी है। कबीर ने बार-बार गोरख की प्रशंसा की है और उन्हें अमर कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि वे योग-मार्ग की महत्ता स्वीकार करते हैं। वास्तव में योगियों ने ही महाराष्ट्र में योग और भक्ति का समन्वय किया। ज्ञानदेव और नामदेव के गीतों में भक्ति और योग का जो गटबन्धन है, वह इसी कारण है। संतमत में श्वास-साधन और चक्रभेद के द्वारा मन को स्थिर कर आत्मतत्त्व के आनंदमय दर्शन की जो बात है वह योगियों से ही उधार ली गई है। इसी प्रकार जो बार-बार "अमृत झरै" "गगन-रस पीवै" कहा है, वह शिव-संहिता के इस सिद्धांत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—

ब्रह्मरंध्र हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कंदहि या योनिःतस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः
त्रिकोणाकान्ती तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्॥

(ब्रह्मरंध्र के सहस्रार के मूल में योनी नाम का त्रिकोण के आकार का एक शक्ति का केन्द्र है। वही चंद्रमा है। इसमें से अमृत झरा करता है। योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा जीव को उलट कर कपालस्थित कर इस रस को पीता है जो सुषुम्ना में होकर नीचे आता है।) कबीर पाताल से

सैं उठ कर गगन भेदने वाले जिस तीर की बात कहते हैं वह कुण्डलिनी को सहस्रार में ले जाना ही है।

ऊपर जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि संतों के रहस्यवाद के एक बड़े अंशों को समझने के लिए हमें बौद्ध साधकों (सिद्धों) और शैव साधकों (नाथों = योगियों) के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है। उपनिषदों, आगमों, तन्त्रों और शैव पुराणों में जिन साधनाओं का उद्घाटन हुआ है, हिन्दी के कवि उन्हीं को सहज, सर्वगुह्य बनाकर चले हैं। जब चक्रभेदन की कठिन रहस्यवादी योग-साधना को कबीर ने भक्ति के सरल पथ तक प्रवाहित कर दिया। वे स्वयं राम की बहुरिया बन गये। प्रेम ही एकमात्र साधना रह गया। इसे सहज कह लो या कठिन। इसे चाहे रहस्य कहो, या चाहे और कुछ। आत्मा के परोक्ष के प्रति प्रेम-मिलन और वियोग के भावों का जितना सुन्दर, प्रभावोत्पादक प्रकाशन कबीर और दादू के काव्य में हुआ है। वैसा संसार के रहस्यवादी काव्य में दुर्लभ है। इस प्रेम के बल पर साधारण ज्ञान के धरातल से उठ कर कबीर थोड़ी सीधी-सादी उक्तियों में संसार की सारी जिज्ञासाओं का अन्त कर देते हैं—

प्रथमे गगन कि पुहुमी प्रथमे
प्रथमे पवन कि पाँणी ?
प्रथमे चन्द कि सूर प्रथमे प्रभु
प्रथमे कौन विनाणी ?
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभु
प्रथमे रकत कि रेत ?
प्रथमे पुरुष कि नारि प्रथमे प्रभु
प्रथमे बीज कि खेत ?
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु
प्रथमे पाप कि पुण्य ?

कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन
तहाँ कछु आदि कि सुन्य ?

भावना के इस उच्चतम स्तर पर उठकर रहस्यवादी कवि सारी साधनाओं को पीछे छोड़ जाता है। तब न मालकूती चाहिये, न जबरूती; न कुण्डलिनी चाहिये, न सहस्रार। तब वह उस अनंत की बीन बन जाता है और उस महान गायक के स्वर में स्वयं बजने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध, नाथ और संत साहित्य में हमारे प्राचीन रहस्यवाद की सबसे प्रधान परम्परा सुरक्षित है। भक्ति-साहित्य में जो रहस्यवाद है, वह अन्य श्रेणी का है और हमने उसकी विवेचना भी अलग ही की है। परन्तु सिद्ध, नाथ और संत साहित्य की रहस्यवादी धाराएँ वस्तुतः एक ही धारा के तीन भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं, इसमें सदेह नहीं। इनमें सबसे पहले सिद्ध आते हैं। सिद्ध "महा-सुक्ख" (महासुह) या "निब्बान" के साधक थे। वह वज्रयानी थे और 'बुद्ध' एवम् 'बोधिसत्व' के रूप में परमसत्ता के उपासक थे। सिद्धों ने जिस धर्म का प्रचार किया उसमें योग की साधना-प्रक्रियाओं और बौद्ध तांत्रिक मतवाद का प्राधान्य था। चित्त की सहजावस्था की प्राप्ति को ही साधक अपना लक्ष्य मानता था। सरह कहते हैं—

चिअ सहज शून सम्पन्ना
काँध बिओएँ या होहि बिसन्ना

एक अन्य पद है—

चीअ थिर करि धरहु रे नाइ। आन उपाये पार ण जाइ
नौवा ही नौका शनअ गुणे। मेलि मेलि सहजे जाउण आणे

(तू किसी अन्य उपाय से पार नहीं जा सकता। चित्त को स्थिर कर। नाव का गुण पकड़ कर धीरे-धीरे किनारे-किनारे खींचता चल।) सहजावस्था में चित्त का, शून्य का शून्य से संमिलन होता था, जो अपार आनन्द का विषय था। इस आनन्द को ही 'महासुक्ख' (महासुह) कहा है। भुसुकपाद कहते हैं—

भुसुक भनइ भइ बूझि अकेले
सहजानंद महासुख लीले

और कण्हपा इस आनन्द का रूपक-रूप में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कान्ह विलरुआ आसव माता
सहज नलनिबन पइसि निपाता

यह चित्त का निरोध और शून्य में उसकी स्थिति योग का भी विषय है। परन्तु योग में जो षटचक्रों का भेदन है, वह सिद्धाचार्यों को स्वीकार नहीं था। यदि हम कबीर के साहित्य को देखें तो वहाँ भी यही परिस्थिति मिलती है। सहज समाधि को कबीर भी प्रधानता देते हैं—

१—सो जोगी जाके सहज भाई
२—आवध राम सबै करम करिहूँ
सहज समाधि न जम कैं डरिहूँ

परन्तु उन्होंने "सहज" शब्द को कहीं साधना की सरल प्रणाली के रूप में लिया है, जैसे—

सहज सहज सबको कहैं, सहज न चीन्है कोइ
जिन सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ

कहीं उससे साधनावस्था का परिचय दिया है, जैसे—

सहजै सहजै सब गये, सुत वित्त कामणि काम
एक मैक ह्वै मिल रह्या, दास कबीरा राम

कहीं उसे आचार का पर्यायवाची मानते हैं—

सहज सहज सबको कहैं, सहज न चीन्हैं कोइ
तिन्ह सहजैं विषया तजी सहज कहीजै सोइ

इस प्रकार उन्होंने बौद्ध सिद्धाचार्यों के "सहज" शब्द का अत्यंत

व्यापक रूप में साधना की सहज प्रणाली और सहजावस्था के लिये प्रयोग किया है।

शून्य में अवस्थित योगी का अनुभव एकदम अनिर्वचनीय था। उसे प्रगट करनेके लिए भाषा की सांकेतिक शक्ति का प्रयोग आवश्यक था। सरहपा इस सहजावस्था के अनुभव का वर्णन यों करते हैं—

जहि मन पवन न संचरइ रविशशि नाइ पवेश
तहि वट चित विराम करु सरहे करिअ उवेश
आद न अंत न मंझ णउ, णउ भव णउ निव्वाण
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण

इसी शैली को कबीर ने भी ग्रहण किया है—

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता ते वो ओंकार
तहाँ कबीरा रामजन, को जाने संसार

या

गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना उदय औ'
अस्त का नाम नाहीं
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम परकाश के सिंधु माहीं
सदा आनंद दुखदंद ब्यापै नहीं,
पूरमानंद भरपूर देखा
मर्म औ' भ्रांति तहँ नेक पावै नहीं,
कहैं कबीर ए एक देखा

तुलना करने पर यह पता लग जाता है कि एक ही प्रकार के अनुभव का वर्णन करना लक्ष्य है। इसी शैली ने आगे बढ़कर संध्या-भाषा का रूप पा लिया है। सिद्ध साधक कहता है—

एकु न किज्जइ मंत न तंत। णिय घरणी लइ केलि करंत
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पंच वरण बिहरिज्जइ

रण जप-होमे मण्डल कम्मे । अनुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे
तौ विणु तरुणि निरंतर जेहे । वोहि कि धम्मे लागइ एण हि देहे

यहाँ "घरणी" का अर्थ 'गृहिणी' नहीं है, यह स्पष्ट है । यह सांकेतिक शब्द है जो आत्मा का प्रतीक है । इस प्रकार की सांकेतिक भूल-भुलैयों का एक बड़ा उदाहरण हम अन्यत्र दे चुके हैं । कबीर की उलटबाँसियों पर इनका प्रभाव स्पष्ट है ।

बौद्ध सिद्धों का शून्यवाद भी बहुत कुछ उसी तरह कबीर को मान्य है । शून्यवाद बौद्ध महायान सम्प्रदाय की वह दार्शनिक शाखा है जो कहती है कि संसार में सब कुछ शून्य है, किसी की भी कोई सत्ता नहीं । दूसरी शाखा विज्ञानवाद का कहना है कि जगत् के सारे पदार्थ असत्य हैं, परन्तु चित् के निकट फिर भी सत्य हैं । यह सत्य-असत्य आपेक्षिक बात है । नागार्जुन शून्यवादी हैं परन्तु उन्होंने बीच का मार्ग पकड़ कर "अनिर्वचनीयवाद" की स्थापना की । माध्यमिकशास्त्र (मंज्यो, सं० ११७१) में नागार्जुन ने बताया है कि तत्त्व जैसा है, वैसा उसका वर्णन करना असम्भव है । वह शून्य है । शून्य ही से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और शून्य में ही वे लीन हो जाते हैं ।

इस शून्य-रूप की अनिर्वचनीय सत्ता की अनुभूति होने के कारण ही बुद्ध तथागत हैं । दृश्य पदार्थ भी शून्य ही हैं । शरीर भी शून्य ही है । शून्य को हम सत् कह सकते हैं, न असत् । सत् और असत् दोनों भ्रम हैं । सत् गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है । इस 'शून्याशून्य' का भी वही स्थान है जो कबीर के निर्गुण का । जो निर्गुण नहीं है वह सगुण भी नहीं है । सिद्ध कवि सहज शब्द शून्य के साम्यवाची अर्थ में प्रयोग में लाते हैं । नाथों और कबीर में शून्य, सुन्न, सहज, सहजानंद आदि एक ही तरह मिलते हैं । सहजावस्था की प्राप्ति को ही बौद्ध सिद्धों ने "महासुक्ख" कहा है और मदपान से उसके आनन्द की कल्पना की है । कबीर भी कहते हैं—

एरे कलाली भर दे प्याला
मेरा मनवां हो मतवाला

जैसा ऊपर से स्पष्ट है सिद्ध सन्त अनात्मवादी थे। वह पिंड में ब्रह्मांड होने की बात कहते हैं। बुद्ध का नाम भी लेते हैं परन्तु यहाँ बुद्ध शून्यतत्त्व से अभिन्न हैं। बाद में शंकर ने इस "शून्यवाद" का विरोध किया और निर्गुण ब्रह्म की स्थापना की। इसके बाद शून्यवाद ने योगियों और सन्तों में आत्मवाद का चोला पहर लिया परन्तु शिव और राम के नाम-मात्र के पीछे "सुन्न" की भावना पूरी तरह छिप नहीं सकी। गोरखनाथ कहते हैं—

वस्ती न शून्य शून्यं न बस्ती
अगम अगोचर ऐसा

इसमें गोरखनाथ ने उस आत्मतत्त्व में शून्यत्व का विरोध अवश्य किया है परन्तु यह एक प्रकार का अनिर्वचनीय शून्यत्व हो गया। नाथ-सन्तों ने शून्य को ब्रह्मरंध्र और भँवरगुफा कहा। डा० बड़थ्वाल नागार्जुन के सम्बन्ध में लिखते हुए कहते हैं (ना० प्र० प०, भाग ४, अं ४)—"तत्त्व को आस्ति और नास्ति, सत् और असत् से बाहर बतलाना वस्तुतः नागार्जुन की शैली का अनुसरण करना है। निर्गुण कवियों पर यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। कबीर कहते हैं—

सोई पै जानै पीर हमारी, जिन्ह सरीर यह ब्यौरी
जन कबीर ठग ठग्यो है बपुरो सुन्न समानी त्योरी

और दादू ने कहा है—

सहज सुन्नि एक ठौर है
सब घट सब ही माँहि
वहाँ निरंजन रमि रहा
कोइ गुण ब्यापै नाँहि

कबीर और दादू के इस सर्वव्यापी शून्य में नागार्जुनीयता विद्यमान है, यह उनके निम्नलिखित उद्धरणों से सिद्ध होता है—

कबीर

जहाँ नहीं तहाँ कुछ जाणि
जहाँ नहीं तहँ लेहु पछाणि
नाहीं देखि न जइए भागि
जहाँ नाहि तहँ रहिये लागि

दादू

नाहीं तहाँ तैं सब किया फिर नाहीं है जाइ
दादू नाहीं होइ रहु साहिब सौं ल्यौ लाइ

वस्तुतः नागार्जुन से आती हुई दार्शनिक परम्परा हिन्दी में अपने शुद्ध रूप में भी दिखाई देती है।"

सिद्ध कवि ७५० वि० सं० में वर्तमान थे और उनकी परंपरा १२०० सं० तक चली परन्तु इस बीच में ही कुछ सिद्धों पर शिवाद्वैत का प्रभाव पड़ चुका था। वे शिव-शक्ति के उपासक हो गये और उन्होंने सिद्धों के सम्प्रदाय से अलग होकर नाथपंथ चलाया। कदाचित् मत्स्येन्द्र या गोरख प्रवर्तक थे। बात यह थी कि सिद्धों की सांकेतिक भाषा ने अनाचार की वृद्धि में सहायता दी थी और इसमे सिद्धपंथ कलुषित हो गया था। 'पंचमकारो' (मीन, मदिरा, मैथुन, मानिक, मांस) का सेवन चल पड़ा था। सिद्धों का अर्थ था कि सिद्धावस्था (या सहजावस्था) प्राप्त योगी पाँचों इंद्रियों का वहिंगमन रोक कर (उनको मार कर) फिर उनका सेवन कर सकता है। इस अनाचार की वृद्धि के साथ गुह्यतंत्रों की स्थापना हुई। 'घरणी' का अर्थ साधना की तीन अवस्थाएँ थीं जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं—अवधूती, चांडाली, डोम्बी (बङ्गाली)। उत्तर सिद्धपंथ में संकेत को भुला दिया गया और अवधूती, चांडाली और डोम्बी से शरीर-सम्बन्ध स्थापित करने

को ही योग समझ लिया गया। गोरखनाथ ने इन शब्दों के फिर नए अर्थ किये और नये सम्प्रदाय में आचार-विचार और ब्रह्मचर्य की महत्ता की पूरी-पूरी स्थापना की। उन्होंने साधना के लिये हठयोग को स्वीकार किया, चक्रभेद की फिर प्रतिष्ठा की, कुण्डलिनी जाग्रत करने को योग (दिव्यमिलन) की प्रथम सीढ़ी बताया। उन्होंने आत्मवाद को माना। शिव और शक्ति ही तत्त्व हैं। कुण्डलिनी (शक्ति) शिव (सहस्रार) से मिल कर अद्भुत आनन्द का विस्फोट करती है। इस प्रकार नाथपंथ चौरासी सिद्धों के पंथ का ही परिष्कृत रूप है।

नाथपंथ में हठयोग की प्रधानता थी। कबीर पर कम से कम प्रारम्भिक दिनों में इस हठयोग का पूरा पूरा प्रभाव था। बाद में उन्होंने केवल धारणा, ध्यान, समाधि आदि को स्वीकार किया और चक्रभेद की ओर से दृष्टि हटा ली, परन्तु उन्होंने कितनी ही बार कुण्डलिनी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि के सहारे नाद (अनहद) सुनने की रीति बताई है और श्वास-निरोध एवं चक्र-भेद का अनुभूति-पूर्ण उत्साहमय वर्णन किया है। यही नहीं, उनके पदों में हठयोग के सारे सांकेतिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे उनकी वाणी साधारण जनता के लिए रहस्यमयी हो गई। हठयोग की साधना-प्रक्रियायें ही इन पदों की कुञ्जी हैं। यदि हम नाथपंथ और कबीर के सिद्धांतों की तुलना करें तो बहुत कुछ साम्य मिलेगा :

(१) योगी शिवाद्वैत को और आगे बढ़ाकर चिन्मय सत्ता को द्वैताद्वैत विकल्पना (द्वैताद्वैत विलक्षण) कहते हैं। कबीर ने भी कहा है कि एक कहता हूँ तो झूठ है, दो कहता हूँ तो पाप है। वह तत्त्व जैसा है, वैसा रहे।

(२) इस द्वैताद्वैत से परे की सत्ता को 'नकारात्मक' परिभाषा में भी बताया जा सकता है। योगी कहता है—

न ब्रह्मा विष्णु रूद्रौ न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वामुर्न च गगनतलं नौ दिशौ नैव काल:
नौ वेदा नैवसंज्ञा न च रविशशिनौ नौ विधिर्नैव कल्प:
स्वज्योति: सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानंद मूर्त।
(सिद्धिसिद्धांत-पद्धति)

इसे ही कबीर यों कहते हैं—

राम निरंजन न्यारा रे अञ्जन सकल पसारा रे
अञ्जन उत्पति ओ ओंकार, अंजन मांड्या सब विस्तार
अञ्जन ब्रह्मसंकर - इद्र, अञ्जन गोपी सँगि गोविंद
अञ्जन वाणी अञ्जन वेद, अञ्जन कीया नाना भेद
अञ्जन विद्या-पाठ-पुराण, अञ्जन फोकट कथहिं गियान
अञ्जन पानी अञ्जन देव, अञ्जन को करै निरंजन सैव
अञ्जन नाचै अञ्जन गावै, अञ्जन भेष अनंत दिखावै
अञ्जन कहाँ कहाँ लग केता, दान-पुनि तप तीरथ जेता
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अञ्जन छाँडि निरंजन लागे

(३) दोनों अनुभूति को प्रधानता देते हैं, शास्त्रज्ञान को महत्व-हीन बताते हैं।

(४) दोनों आश्रम और वर्ण-व्यवस्था के क़ायल नहीं हैं। दोनों स्मार्त आचार-विचार के विरोधी हैं। दोनों पौराणिक देवताओं और अवतारों में विश्वास नहीं करते—उनकी हँसी उड़ाते हैं।

(५) दोनों परम नाद या परम विंदु से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। षटचक्र और उनके द्वारा "अनहदनाद" की साधना दोनों में है।

परन्तु दोनों में जो भेद हैं, उन्हें भी समझ लेना बुरा नहीं है। ये भेद भी महत्वपूर्ण हैं—

(१) अवधूती (योगी) का लक्ष्य मुक्ति है, साधना है चक्रभेद

या हठयोग। कबीर का लक्ष्य भी मुक्ति है परन्तु उसमें जीवात्मा के अस्तित्व का एकदम नाश नहीं हो जाता, वह साक्षी भूत रहता है। रामानन्द से प्रभावित होने के बाद कबीर ने भक्ति को ही साधना-रूप में प्रधानता दी है। योगमत में इस प्रकार की भक्ति के चिन्ह भी नहीं हैं।

(२) हठयोग में आसनों, मुद्राओं आदि की बड़ी महत्ता है, परन्तु कबीर ने उसे अस्वीकार किया है। वह गौण के पीछे पड़ना नहीं चाहते।

(३) योगी गार्हस्थ्य जीवन और कार्यत्याग पर बल देते हैं। यद्यपि दूसरी बात कबीर को ग्राह्य है, परन्तु इस हद तक नहीं। पहली बात को तो वे ज़रा भी नहीं मानते।

इसके अतिरिक्त कबीर ने (या उनके बाद कबीरपंथ ने) चक्रों की संख्या में भी वृद्धि की है और उनके आधार पर नवीन-नवीन लोकों की प्रतिष्टा की है। इस प्रकार अध्यात्म-साधना को और भी विशद बनाया गया है। परन्तु यह सब कदाचित् कबीर के बाद का विकास है जिसके लिए कबीर को ज़िम्मेवार नहीं ठहराया जाता।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि कबीर केवल मात्र योग-परम्परा के पोषक हैं। उन्होंने इस साधना को अत्यन्त निकट से देखा है, स्वयं परखा है। वास्तव में कबीर के मौलिक मतवाद को समझने के लिए सिद्धों और नाथों के सारे धार्मिक रहस्यों और स्वयं कबीर की प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है परन्तु यह कठिन कार्य है। एक ही पारिभाषिक शब्द ने तीनों में नवीन अर्थों का प्रकाश पाया है। अर्थ की धारा कहीं संकुचित है, कही स्फीयमान। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धों और नाथों की विचारधारा और साधना का बहुत कुछ अंश कबीर की दाय-सम्पत्ति बन गया है। परम्परागत इस निर्गुण भावना में कबीर ने भक्ति (प्रेम) का मिश्रण कर दिया और इस प्रकार

वह शून्यवादियों और सगुण भक्तों के बीच स्थान पाते हैं। साथ ही उन्होंने कठिन तप, इन्द्रियदमन और योग-साधना में अनुभूतिमूलक विरह-मिलन-प्रधान भक्ति का समावेश कर दिया है। इसके कारण उनकी रहस्यवादी भावना अत्यंत मधुर और आकर्षक हो गई है। हिंदी रहस्यवादी कविता का सर्वोत्तम विकास कबीर, दादू और अन्य संतों की रचनाओं में ही मिलता है।

७

भक्ति-काव्य में रहस्यवाद

भक्ति-साहित्य में सबसे पहले विद्यापति का नाम आता है। इनके पद-साहित्य के संबन्ध में बड़ा मतभेद है। डा० जनार्दन मिश्र का मत है—"विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत ज़ोरों पर था। उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अवलम्बन करना इन्हें शायद अभीष्ट न था अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमें न थी। इसलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी उसमें इन्होंने अपने को बहा दिया है।" (विद्यापति, पृष्ठ ४७) "निगुण रहस्यवाद और इनके रहस्यवाद में कुछ भेद हैं। जो निर्गुणवादी होते हैं वे जीवात्मा और परमात्मा को स्त्री-पुरुष के रूप में देखते हैं, किन्तु वह स्वरूप किसी व्यक्ति-विशेष या रूप-विशेष का द्योतक नहीं होता। वह स्त्रीत्व और पुरुषत्त्व भाव संबन्ध का केवल वर्णनात्मक रूप होता है। विद्यापति इस सिद्धांत का अवलम्बन कर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को अनुभव करते हैं। हिंदू शास्त्रों के पंडित होने और उनमें श्रद्धा और विश्वास रखने के कारण उन्हें रहस्यवाद के सिद्धान्तों को राधाकृष्ण, शिवपार्वती, सीताराम अथवा जीवात्मा-परमात्मा की साधारण स्थिति के वर्णन द्वारा अनुभव करने और कराने में किसी प्रकार की शंका नहीं होती थी।" उन्होंने शिव-सम्बन्धी तीन पद उद्धृत किये हैं—

(१) कोन बन वसथि महेस
केओ नहिं कहथि उदेस

तपोवन वसथि महेस
भैरव करथि कलेस
कान कुण्डल हाथ गोल
ताहि बन पिश्रा मिठ बोल
जाहि बन सिकिश्रो न डोल
ताही बन पिश्रा हँसि बोल
एकहि वचन बिच मेल
पहु उठि परदेस गेल

कवि का प्रश्न है—परब्रह्म का निवास स्थान कहाँ है, इसे कोई नहीं जानता। उसकी अन्तरात्मा कहती है—तप में। ब्रह्म तपोमय है। शंकर तप कर रहे हैं। उनके कानों में योगियों का कुंडल है और हाथ में भिक्षापात्र है। जिस घोर तपश्चर्या में समाधि की अवस्था में चित्त-वृत्तियों का नितान्त निरोध हो जाता है, उसी में भगवान् भक्त के अत्यन्त निकट होकर उनसे हँसते-बोलते हैं, परन्तु जहाँ साधक के हृदय में किंचित भी अहंकार उत्पन्न हुआ, एक वचन का भी अन्तर पड़ा कि वह अनुभव गया। भक्त और भगवान् के बीच में अहंकार बाधा-रूप है।

(२) हम उन हे सखि रूसन महेस
गौरि विकल मन करिय उदेस
तन आभरन वसन भेल भार
नयन बहे निर्मल जलधार
पुछै छी पंथुक जन हव तोहि
एहि बाटे देखल बूढ़ बटोहि
अंग में थिकैन्हि विभूति सरूप
की कहव प्रभु केर सुन्दर रूप
कवि विद्यापति यह पद भान
शिवजी प्रकट भेला गौरिक ध्यान

गौरी या जीवात्मा के मन में ऐसी शङ्का हुई कि मुझसे कोई अपराध हो गया है। इसलिए महेश या परमात्मा मुझसे रुष्ट हो गये हैं। बिकल होकर गौरी महेश को खोजने लगी, आदि।

(३) भगवान् रामचन्द्र को लेकर रहस्यवाद की स्थापना—

विहिं मोर परसन भेल
रघुपति दरसन देल
पेखलि वदन अभिराम
पुरल सकल मन काम
जागि उठल-पयो बान
बसि नहिं रहल गेआन
भनहिं विद्यापति भान हे
सुपुरुष न कर निदान हे

विधाता मेरे ऊपर प्रसन्न हुए। रघुपति का मुझे दर्शन मिला। उस सुन्दर मुख को मैंने देखा। हृदय की सारी लालसाएँ पूरी हो गईं। कामदेव के पाँचों बाण मानों एक साथ ही प्रगट हो गये। मुझे कुछ भी अपनी सुध-बुध न रही। विद्यापति कहते हैं कि सज्जन पुरुष किसी बात को अंतिम दशा तक नहीं पहुँचाते।

(४) साधारण रहस्यवाद—

एक दिन छलि नवरीति रे
जल मिन जेहन पिरीत रे
एकहि वचन विच भेल रे
हँसि पहु उतरो न देल रे
एकहि पलंग पर कान्ह रे
मोर लेख दुर देस भान रे

एक दिन ऐसा था जब जल और मीन की तरह हम लोगों में प्रगाढ़ प्रीति थी जिसका नया-नया स्वरूप नित्य प्रकट होता था। केवल एक

बात का अन्तर हो गया और हँसकर प्रभु ने उत्तर भी नहीं दिया। यह जीवात्मा में अहंकार की उत्पत्ति हुई। कृष्ण एक ही पलंग पर हैं पर मालूम पड़ता है जैसे दूर देश में हैं। यहाँ पलंग से मतलब शरीर से है। जीवात्मा और परमात्मा का निवास और परस्पर अनुभव शरीर के भीतर होता है। साधक जीव उसे इसी पलंग पर पा लेते हैं परन्तु जो मोहग्रस्त है उसे परमात्मा का अनुभव भी नहीं होता। निकट होने पर भी वह उसके लिए बहुत दूर होता है।

अपनहिं नागरि अपनहि दूत
से अभिसार न जान बहूत
की फल तेसर कान जनाए
आनन नागर नयन बझाए
ए सखि राखहिंसि अपनुक लाज
परक दुआरे करह जनु काज
परक दुआरे करिअ जओं काज
अनुदिन अनुखन चाइब लाज
दुहु दिस एक सओं होइ के विरोध
तकरा वड़ाइते कतए निरोध

कवि कहता है – हे सखि, हे जीवात्मा, तू आप ही नायिका है, आप ही दूती है। तेरा जैसा अभिसार है वह अपूर्व और अलौकिक है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और परमात्मा के बीच में किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं। तीसरे व्यक्ति को अर्थात् दूती को अपने हृदय की बात बताने की आवश्यकता ही क्या है। लो, नायक आ गया। अपने नयन की तृप्ति करो। परमात्मा के अनुभव के बाद भी जब जीवात्मा संसार में लिप्त रहती है तो कवि व्यथित होकर कहता है—हे सखि, अपनी लाज रखो। पराये द्वार पर टहल मत करो। पराये द्वार पर जो टहल करता है उसे क्षण-क्षण लांछित होना पड़ता है। उसका दोनों

दिशाओं से एक-सा विरोध होता है अर्थात् ऐसी अवस्था में न परमात्मा ही प्रसन्न होता है न संसार ही। इसमें क्या बड़ाई? यह विरोध किस लिए? इस उक्ति से कवि जीवात्मा को परमात्मा की ओर उन्मुख करना चाहता है।

जहाँ तक उन कुछ पदों का सम्बन्ध है जिन्हें हमने अवतरण के रूप में दिया है या जो डा० जनार्दन मिश्र ने "विद्यापति" में संग्रहीत किये हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं की एक प्रकार का रहस्यवाद उनमें है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा की कल्पना स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के रूप में की गई है। इस रहस्यवाद को सामने रखने में कवि ने पौराणिक देवताओं और अवतारों की ओट ली है। फिर भी यह रहस्यवाद बिल्कुल निर्गुण श्रेणी का है और उस पर योगधारा का प्रभाव लक्षित है। परन्तु इस प्रकार के पद विद्यापति के प्रतिनिधि पद नहीं हैं। उनकी सख्या बहुत कम है। अधिकांश पदावली कृष्णलीला से सम्बन्धित है जिसमें राधाकृष्ण को ही स्थान मिला है, गोपियों को नहीं।। उसमें भक्ति-भाव परोक्ष या अपरोक्ष रूप में कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता वरन् उस पर रीति शास्त्र का प्रभाव है।

'मैथिल-कोकिल विद्यापति' (ब्रजनन्दन सहाय) और 'विद्यापति की पदावली' (रामवृक्ष शर्मा) दोनों संग्रहों में विद्यापति को इसी रूप में उपस्थित किया गया है। उनके शीर्षक शृङ्गार-रसान्तर्गत नायिका-भेद के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हैं। यह सम्भव है कि कवि ने अधिकांश पद उस क्रम से न लिखे हैं जिस क्रम से इन संग्रहों में संग्रहीत है, उसके ठीक-ठीक दृष्टिकोण का पता इनसे न लग सके, परंतु यह अवश्य है कि राधा-कृष्ण की लीला-गान को सामने रखते हुए भी कबि ने शृङ्गार-शास्त्र का अधिक सहारा लिया है। अनेक पद इतने स्थूल एवं लौकिक हैं कि उनमें किसी प्रकार भी आध्यात्मिक रूपक की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। सच तो यह कि कृष्ण-काव्य में एक बार लीला को आध्यात्मिक एवं अलौकिक स्वीकार करने के बाद

कवि किसी निश्चित रूपक-पद्धति के आश्रित होकर नहीं चलते हैं और परोक्ष रूप से चाहे हम प्रतीक ग्रहण कर लें, चेतन रूप में कवि के मन में यह प्रतीक-भावना स्पष्ट रूप से उपस्थित रहे तो लीला द्वारा आनंद प्राप्ति में एक बड़ा व्याघात आ खड़ा हो। यह बात भक्तिशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। भक्तिशास्त्र में जहाँ कथा के पीछे रूपक खड़े भी किए गए हैं वहाँ भी उनका महत्व गौण है और लीला-रस की प्राप्ति ही मुख्य ध्येय है।

अतः विद्यापति के काव्य का अध्ययन करते हुए हमें यह समझ लेना चाहिये कि विद्यापति की सामान्य वृत्ति क्या है और उन्होंने कहाँ तक गौण रूप से अपने समय की अन्य लोक-धाराओं को ग्रहण किया है। मिथिला और हिन्दी का पूर्वी प्रदेश प्रागैतिहासिक काल से निर्गुण रहस्यवादी धारा के केन्द्र रहे हैं। उपनिषदों, सिद्धों, नाथों में होकर यह धारा मध्य युग के संत-कवियों में आई है। अब भी ये प्रदेश रहस्यवादी योगियों और सन्तों के केन्द्र हैं। अतः थोड़ा बहुत रहस्यवाद इस प्रदेश में चलता ही रहा है। कवि ने उसे ग्रहण किया है। संभव है उनके हिन्दू शास्त्रों के अध्ययन ने इस प्रवृत्ति को उत्तेजना दी हो। परंतु मूल रूप से विद्यापति आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी कवि नहीं हैं। वह लीला-कवि हैं। उन्होंने जयदेव का पथ ग्रहण किया है और राधा-कृष्ण की मधुर लीला को काव्य का विषय बनाया है। अपने लीला-गान को उन्होंने रीति के सिद्धांतों से पुष्ट किया है और राधा के नायिका-रूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कदाचित् वृद्धावस्था में उन्होंने अपने कुल-देवता शिव की भक्ति की है और वैराग्य का अनुभव किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मिथिला में प्रचलित शक्ति-पूजा को स्थान दिया है और वैष्णव भक्त की तरह गंगा की भी स्तुति की है। वास्तव में उन्होंने अपने समय के मिथिला के सब भक्ति-पंथों का प्रतिनिधित्व किया है।" भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न संप्रदायों की प्रधानता रही, पर मिथिला में ऐसा

कभी नहीं हुआ। अपनी ठोस विद्या-बुद्धि के बल से वह अबाध मंथर गति से अपना काम करता रहा। यही कारण है कि मैथिल समाज में देव-देवियों के भेद किसी प्रकार की कट्टरता का प्रचार नहीं हुआ और इस समय भी इनकी यही मनोवृत्ति है। किसी मैथिल को पूजा करते देख कर यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है।'

विद्यापति का युग (१३७५ ई०—१४४८ ई०) जहाँ वैष्णव भक्ति के आरम्भ का युग था, वहाँ रहस्यवादी निर्गुणियों के उत्थान का भी युग था। कबीर का समय १३९९ ई०—१५१८ ई० है, अतः वह विद्यापति के समसामयिक रहे। साथ ही उस समय के साहित्य में भक्ति की प्रधानता नहीं थी, शृङ्गार रस की प्रधानता थी एवं उन रीति-शास्त्रों का निर्माण हो रहा था जो पूर्ववर्ती विलास-मूलक संस्कृत साहित्य पर आश्रित थे और जिन्होंने परवर्ती हिन्दी काव्य (भक्ति और रीति-काव्य) दोनों को प्रभावित किया। इसी समय ध्वनि-काव्य की महत्ता की प्रतिष्ठा हुई थी और ऐसी दशा में विद्यापति के काव्य में रीति-पद्धति को विशेष महत्वपूर्ण आश्रय मिला जिसने एक प्रकार से उनके कार्य (लीलागान) को सरल कर दिया। उन्होंने लीला के लिये राधा को नायिका के रूप में स्वीकार करके उसके विशेष व्यक्तित्व के निर्माण को सूर पर छोड़ दिया।

विद्यापति के कृष्ण-काव्य के पदों में भी कुछ ऐसे पद ढूँढ़े जा सकते हैं जिनमें शृंगार के आवरण में छिपटे हुए संकेत मिलेंगे। उदाहरण के लिए नख-शिख-सम्बन्धी पद—

साजन अकथ नहीं न जाइ
अबल अरुण ससिगण केर मंडल भीतर रहा लुकाइ
कदली ऊपर केसरि देखल केसरि मेरु चढ़ला
ताही ऊपर निसाकर देखल फेर ता ऊपर बइसला
करि ऊपर कुरंगिनि देखल भमर ऊपर फनी

एक असंभव अउर देखल जल ऊपर अरविन्दा
बेवि सरोरुह ऊपर देखल जइसन दूतिअ चन्दा
भन विद्यापति अकथ कथा ई रस केओ केओ जान
राजा शिवसिंह रूपनरायन लखिमादेइ रमान

संभव है कवि स्त्री-रूप में जीवन का काल्पनिक वर्णन कर रहा हो। विरह-पदों के अंत में इस प्रकार की उद्बोधन-पूर्ण पंक्तियाँ जैसे

मन विद्यापति सुन बर नारि
धैरज धये रहु मिलन मुरारि

आलोचक के लिए समस्या उत्पन्न कर देती है। ऐसी पंक्तियों में कवि स्वयं नायिका का स्थान लेकर प्रभु के अनुग्रह के लिए प्रतिज्ञा करता दिखलाई देता है। घोर शृंगारिक पद में अंतिम एक-दो पंक्ति द्वारा कवि धार्मिक भूमि पर उतर आता है जैसे

ऐहो विद्यापति भाने
गुंजरि भज भगवाने

या

विद्यापति कह सुनु बनितामनि तोर मुख जीतल ससिया
धन्य धन्य तोर भाग गोवालिनि हरि भजु हृदय हुलसिया

इस प्रकार के पदों में कवि शृंगार-भूमि पर रहते हुए भी रहस्योन्मुख हो जाता है और धार्मिक रहस्यवाद की सृष्टि करता है।

परन्तु विद्यापति के काव्य में हम काव्यात्मक रहस्यवाद के अनेक उत्कृष्ट पद पाते हैं। कवि के रहस्यवाद और दार्शनिक के रहस्यवाद में अन्तर है। कवि का रहस्ययाद अनुभूति की गहराई से उत्पन्न होता है, दार्शनिक का रहस्यवाद कल्पना के लोकोत्तर विलास से। कबीर का रहस्यवाद दार्शनिक का रहस्यवाद है। उसकी कल्पना के क्षेत्र में जीव और परमात्मा का अनन्त सम्बन्ध है। विद्यापति का रहस्यवाद

सहज अनुभूति की गंभीरता से उत्पन्न होता है। उनके रहस्यवाद का क्षेत्र सौन्दर्य, प्रेम और विरह की वेदना है। वह रहस्यप्रधान है। विद्यापति के पदों में काव्यात्मक रहयस्वाद प्रचुर मात्रा में है। सौन्दर्य और प्रेम को देखने की उनकी अन्तर्दृष्टि इतनी मार्मिक और तीव्र है और उनकी तद्विषयक अनुभूति इतनी गहरी है कि हम रहस्य के ऊँचे स्तर पर उठ जाते हैं। उनके कृष्ण "स्वप्न" हैं—

ए सखि पेखली यक अपरूप
सुनइत मानबि सपन सरूप

या

कि कहब हे सखि कानक रूप
के पतियायब सपन सरूप

उनकी राधा में अपार्थिव सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है—

देख देख राधा रूप अपार
अपरुब कै विहि आनि मिलावल खिति तले लावनि सार
अंगहि अंग अनंग मुरछायत हेरइ पड़इ अधीर
मनमथ कोटि मथन करु जे जन से हरि महि महँगीर
कत कत लछिमी चरनतल नेउछय रंगिनि हेरि विभोर
करु अभिलाष मनहिं पद-पंकज अहोनिसि कोर अगोर

उनका प्रेम भी कम रहस्यात्मक नहीं है—

सखि की पुछसि अनुभव मोय
सोइ पिरीत अनुराग बखानइत तिल तिल नूतन होइ
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल
सोइ मधुर बोल श्रवनहिं सुनिलों श्रुतिपथे परस न गेल

अंतिम मिलन भी सपने में होता है जिसमें वास्तविक दैहिक मिलन से अधिक तृप्ति है। सच तो यह है कि मानसिक मिलन की कल्पना स्वयं रहस्यात्मक है—

रभसहि तह बोलन्हि मुख कांती
पुलकित तनु मोर कत पार भांती
आनन्द मोर नयन भरि गेला
प्रेमक आंकुर अंकुर भेला
भेंटल मधुर पति सपन मों आज

विद्यापति मुख्यतः पंडित और शृङ्गार कवि थे। निर्गुण मत एवं पौराणिक रहस्यवाद का प्रभाव उन पर प्रारंभिक रूप से पड़ सकता है। हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि पद्मावती में कई प्रकार के पद हैं—

(१) साधारण शृङ्गार के पद जैसे वयः-संधि और सद्यःस्नाता के पद जिन्हें राधा-कृष्ण कथा से अलग रखकर भी आनन्द उठाया जा सकता है।

(२) राधा-कृष्ण के पद जिनमें दोनों के ऐक्य का स्पष्टतयः उल्लेख है। ये पद एक कथा को लेकर चलते हैं जिनको एक निश्चित रूप-रेखा है।

(३) सांकेतिक पद जिन्हें डाक्टर जनार्दन मिश्र ने रहस्यवाद पर घटाया है। इन पदों का एक अर्थ ध्वनि-शास्त्र को दृष्टि में रखकर भी किया जा सकता है जैसे—

कर धरु करु मोहे पारे
देव हम अपुरब हारे
सखि सब तेजि चल गेली
न जानु कोन पथ भेली
हम न जाएब तुअ पासे
जाएब औघट घाटे

यहाँ व्यञ्जार्थ यह लिया जा सकता है—सखियों का साथ न होना और अज्ञात पथ एकांत निर्देश करते हैं; माधव को गले का हार देकर राधा उन्हें गले का हार ही बनाना चाहती है। स्वयं हाथ पकड़ने की

प्रार्थना करना आत्मसमर्पण है। यहाँ रति स्थायी भाव ही व्यंजित है। डा० जनार्दन मिश्र ने इस पद में जीवात्मा-परमात्मा की अवतारणा की है, परन्तु व्यंगकाव्य की दृष्टि से यह पद शृङ्गार का ही सिद्ध होगा। संभव है, रहस्यवाद के कितने ही अन्य पद शृङ्गारमूलक ध्वनिकाव्य ही सिद्ध हों। अतः जब तक उनकी इस दृष्टि से परीक्षा न हो, तब तक शैव विद्यापति को निर्गुण संत का रूप देने का आग्रह ठीक न होगा।

भक्तिकाव्य में कालक्रम के अनुसार विद्यापति के बाद सूरदास (१४७८ ई०-१५८३ ई०) आते हैं। उनका सबसे प्रामाणिक ग्रंथ सूरसागर है जिसका रचना-काल १६वीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध होगा। सूरसागर के कुछ पद सगुण रहस्यवाद के सुन्दर उदाहरण हैं। रहस्यवाद भक्त की आत्मा की सबसे ऊँची उड़ान है जब वह परमात्मा की ओर अग्रसर होता हुआ उसके अत्यंत निकट पहुँच जाता है। यों तो भगवान की सारी लीला ही रहस्यात्मक है। सात जीव को अनंत (ब्रह्म) का अनुभव अचरज की बात है ही। जिस भगवत्कृपा (अनुग्रह या पुष्टि) के द्वारा यह अचरज संभव हो जाता है वह स्वयं कम रहस्य की वस्तु नहीं। इसीलिए सूरसागर ने अनेक पदों में भगवान की लीला और उनकी अनुकंपा के प्रति आश्चर्य प्रगट किया है।

परंतु यहाँ हमारा तात्पर्य उन पदों से है जिनमें भक्त की आत्मा भगवत्-वियोग के दुःख से कातर होकर एक अलौकिक, अकल्पित रहस्यलोक की सृष्टि करती है। निर्गुण संतों का रहस्यवाद मूर्त चित्रों की उपेक्षा करता है परन्तु भक्त सूरदास के रहस्यवादी पदों में भी मूर्तचित्र स्पष्ट रूप से आते हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में उनमें रहस्यमयी "अव्यक्तता या धुँधलापन" नहीं है। इस प्रकार के रहस्यवाद को हमने "सगुण रहस्यवाद" का नाम दिया है। वह नाम, रूप और गुणों का सहारा मात्र लेकर रूप-गुण का अतिक्रमण करने की

चेष्टा करता है। संतों के रहस्यवाद की तरह एकदम इनका तिरस्कार नहीं करता।

इन सगुण रहस्यवाद के पदों में सूरदास ने अन्योक्ति-पद्धति का प्रयोग किया है और रूपक के सहारे नकारात्मक चित्र को उपस्थित करने की चेष्टा की है। एक आदर्श रहस्यलोक की कल्पना करते हुए सूरदास लिखते हैं—

चकई री! चलि चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निसिदिन रामराम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग
जहाँ सनक से मीन,हंस शिव, मुनि जन गन रवि प्रभा प्रकास
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुञ्जत निगम सुवास
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृतरस पीजै
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहङ्गम! इहाँ कहाँ रहि कीजै

इस प्रसिद्ध पद में एक परोक्ष जगत की धुँधली-सी झलक दिखलाई गई है।

कबीर के इसी तरह के पद को सामने रखने से सूरदास के पद की व्यंजना और साहित्यिकता स्पष्ट हो जायगी। कबीर का पद इस प्रकार है—

हंसा प्यारे! सरवर तजि कहँ जाय?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते बहु विधि केलि कराय
सूख ताल पुरइनि जल छोड़े कमल गयो कुम्हिलाय
कह'कबीर जो अब की बिछुरै बहुरि मिलै कब आय

वास्तव में इस प्रकार के पद अनेक संतों और भक्तों ने कहे हैं। उनकी रूढ़ि-सी चलती जान पड़ती है। परन्तु कबीर और सूरदास के पदों में विषय और पद्धति में साम्य होते हुए भी अन्तर है। रूपक के प्रयोग से सूरदास ने अपने रहस्यलोक को अधिक मूर्त, भावमय, सुन्दर और सरस बना दिया है।

सूरदास ने अपनी रहस्यात्मक अन्योक्तियों में चकई, सखि, भृङ्गी और सुवे को संबोधन किया है। ये सब आत्मा के प्रतीक हैं। यह बात समझ लेने से इन पदों को व्यंजना स्पष्ट हो जाती है और हम उच्चतम रहस्यमयता का अनुभव करने लगते हैं। चकई वाला पद उद्धृत किया गया है। अन्य पद इस प्रकार है—

१—चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं
जिहि सरोवर कमल-कमला रवि नहीं विकसाहिं
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल अरु मिलि मिलि न्हाहिं
मुक्ति मुक्ता अंबु के फल तिन्हैं चुनि चुनि खाहिं
अतिहिं मगन महामधुर रस रसन मध्य समाहिं
पद्म वास सुगंध शीतल लेत पाप नसाहिं

सदा प्रफुलित रहै जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं
देखि नीर जो छिलछिलो अति समुझि कछु मनमाहिं
सघन गुञ्जत बैठ उनपर भौंर हैं थिरमाहिं
सूर क्यों नहि चलौ उडि तहँ बहुरि उड़िबो नाहिं

२—भृंगी री भजि चरण कमल पद जहँ नहिं निशि को त्रास
जहँ विधि भानु समान प्रभा-नख जा वारिज सुख रास
जिहिं किंजल्क भक्ति नव लक्षण याम ज्ञान रस एक
निगम सनक शुक नारद शारद मुनिगन भृंग अनेक
शिव विरंचि खंजन मन-रंजन छिन छिन करन प्रवेश
अखिल कोश तहँ वसत सुकृत जग प्रगटत श्याम दिनेश
सुनु मधुकरी भरम तजि निर्मम राजिव रवि की आश
सूरज प्रेम सिंधु में प्रफुलित वहँ चलि करें निवास

३—सुवा चलि तो बन को रस पीजै
जा बन राम नाम रस अमृत श्रवण पात्र भरि लीजै

को तेरो सुतक पिताहू काको घरनी घर को तेरो
काम कराल श्वान को भोजनहू कहै मेरो मेरो
बड़ी वाराणसी मुक्ति क्षेत्र है चलि तोको दिखराऊँ
'सूरदास' साधुन की संगति बड़ो भाग्य जो पाऊँ

इन सब रहस्यवादी पदों का विश्लेषण करने से इतनी बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) सरस भावुक हृदय कवि होने के कारण सूर की कल्पना कबीर आदि संतों के समान अधिक 'नकारात्मक' नहीं हो पाई है। परन्तु सूरदास ने कहाँ क्या है इसी बात को स्पष्ट करके सगुण रहस्य-मय लोक की सृष्टि की है।

(२) रूपक के प्रयोग से चित्र स्पष्ट उतर सका है। इन पदों में सरोवर और वाराणसी की दो उपमाओं का प्रयोग किया गया है और उनके द्वारा यदि रूपक नहीं तो कुछ-कुछ उसी जैसे अलंकार की सृष्टि की गई है।

(३) भिन्न-भिन्न वस्तुओं (भृंगी, मधुकर, शुक, सखी और चकई) का एक ही वस्तु (आत्मा) का प्रतीक बनाने के कारण विषय की अलौकिकता स्पष्ट हो जाती है।

(४) कवि ने सामान्य द्वारा असामान्य की व्यंजना की है और असामान्य गुणों को प्रत्यक्ष करने के लिये या तो 'नकारात्मक' पद्धति का प्रयोग किया है अथवा सामान्य वस्तु को ही कोई विशेष गुण प्रदान किया है।

परन्तु केवल इन्हीं थोड़े से पदों को रहस्यवादी पद कहकर यह व्यंजना करना उचित नहीं होगा कि सूरसागर के अन्य समस्त पदों में केवल लीलागान है, कोई ऊँची भावना नहीं है, या सगुण भक्तों की भावना में रहस्यवादिता की मात्रा थोड़ी भी नहीं है। वास्तव में तुलसी और सूर के लिए राम और कृष्ण उतने ही रहस्यमय हैं जितने

निर्गुणियों के लिए ब्रह्म। सूरसागर की भूमिका में सूरदास ने स्पष्ट ही लिखा है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगै मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै
परम स्वाद सब हीं सु निरन्तर अमित तोष उपजावै
मन बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन धावै
सब विधि अगम विचारहिं तातै सूर सगुन पद गावै

इस 'मन बानी को अगम अगोचर' और सगुण रूप में कोई भेद नहीं है। सगुण रूप की साधना अपेक्षाकृत सरल साधना है, इसीलिए भक्त उसकी ओर मुड़ता है। परन्तु जब साधक गोपियों की तरह सगुण रूप के विरह में इस तरह व्याकुल हो उठता है, तो उसमें और निर्गुण संत में कोई अन्तर नहीं रह जाता। गोपियाँ कहती हैं—

नैन सलोने श्याम हरि कब आवहिंगे।
वे जो देखे राते राते फूलन फूले डार
हरि बिनु फूलझरी सी लागत झरि झरि परत अँगार
फूल बिनन ना जाऊँ सखी री हरि बिन कैसे फूल
सुन री सखी मोहि राम दोहाई लागत फूल त्रिशूल
जब ते पनिघट जाऊँ सखी री वा यमुना के तीर
भरि भरि यमुना उमड़ि चलत हैं इन नयनन के नीर
इन नयनन के नीर सखी री सेज भई घर नाव
चाहत हौं ताहि पै चढ़ि के हरिजी के ढिग जाव
लाल हमारे प्रान पियारे रहे अधर पर आय
सूरदास प्रभु कुञ्जबिहारी मिलत नहीं क्यों धाय
(सूरसागर—स्कं० १० पृ० ४६१, पद ६८)

यही नहीं हरिजी का सौन्दर्य भी अद्भुत है, अनिर्वचनीय है—

तरुणी निरखि हरि प्रति अंग
कोउ निरखि नख इंदु भूली कोउ चरण युग रंग
कोउ निरखि वपु रही थकि कोउ निरख युग जानु
काउ निरखि युग जंघ शोभा करति मन अनुमानु
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचि कारि
कोउ निरखि हृदनाभि की छवि डारि मन तन वारि
रुचिर रोमावली हरि की चारु उदर सुदेश
मनो अलि सेनी विराजत बने एकहिं भेष
रही एकटक नीर ठाढ़ी करत बुद्धि विचार
सूर आगम कियो नभ ते मनो सूछम धार
(सूरसागर पृ० १८७, पद २०)

इस अद्भुत सौन्दर्य को साधक (भक्त) किसी भी भाँति पकड़ नहीं पाता। वह तो क्षण-क्षण में परिवर्तन प्राप्त करता रहता है—

सखी री सुन्दरता का रंग।
छिन छिन माँह परत छवि औरे कमलनयन के अंग
श्याम सुभग के ऊपर वारौं आली कोटि अनंग
सूरदास कछु कहत न आवै गिरा भई गति पंग
(सूरसागर, पृ० १८८, पद २६)

केवल कृष्ण की छवि ही रहस्यमय नहीं है, उनका शब्द शब्द रहस्यमय है—

सुन्दर बोलत आवत बैन
ना जानौं तेहि समय सखीरी सब तन स्रवन कि नैन
रोम-रोम में सब्द सुरति की नखसिख ज्यों चख ऐन
ऐते मान बनी चंचलता सुनी न समझी सैन
तब तकि जकि ह्वै रही चित्र सी पल न लगत चित चैन
सुनहु सूर यह साँच कि विभ्रम सपन किधौं दिन रैन
(सं० सूरसागर, वियोगीहरि, पृ० १२२, पद २१०

राधे-कृष्ण की प्रेम की वही पूर्णता साधक का लक्ष्य है जब मिलने पर ही मिलने का विश्वास नहीं होता, जब प्रेमी-प्रेमिका कुछ न कुछ अपूर्णता का अनुभव करते रहते हैं—

राधे मिलेहु प्रतीति न आवति
यदपि नाथ बिधु बदन विलोकत दरसन को सुख पावति
भरि भरि लोचन रूप परम निधि उर में आनि दुरावति
विरह विकल मति दृष्टि दुहूँ दिसि रुचि सरधा ज्यों धावति
चितवति चकित रहति उर अंतर नैन निमिष नहिं लावति
सपनौ आहि कि सत्य ईस यह बुद्धि वितर्क बनावति
कबहुँक करत विचार कौन हौं को हरि केहि यह भावति
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति

इसी प्रकार हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण की प्रेम की कथा संपूर्णतयः रहस्यवादी भित्ति पर खड़ी है। सौन्दर्य, प्रेम, मिलन और विरह—सभी पक्षों में इस प्रेम में अलौकिकता है और यही अलौकिकता उसे रहस्यवादी रूप प्रदान करती है।

कृष्ण-राधा की लोक-कथा में अनेक अन्य प्रकार से भी अलौकिकता भरने की चेष्टा सूरदास ने की है। वल्लभाचार्य के अनुसार लीला मोक्ष है (लीलावत्तु लीला कैवल्यम्)। उसका रंगस्थल यद्यपि संसार है परंतु संसार व सांसारिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं (लीलायां एवं प्रयोजन त्वात्। ईश्वरत्व वा देव न लीला पर्यनुभोक्तुं शक्या।) वल्लभाचार्य और पुष्टि मार्गीय भक्तों ने ब्रज को संसार से अलग माना और उसे गोलोक की प्रतिच्छाया अथवा गोलोक ही समझा। एक पद में सूरदास कहते हैं कि कृष्ण, गोपी और ग्वाल एक ही हैं—

गोपी-ग्वाल, कान्ह दुइ नाहीं ये कहुँ नेक न न्यारे

एक अन्य स्थान पर स्पष्ट है कि गोपियाँ ब्रज—बालायें नहीं हैं, वरन्

श्रुति हैं। सुबोधिनी टीका में वल्लभाचार्य ने भी गोपियों को श्रुति माना है (अत्यन्तर रूपाणाम् गोपिकानां) परंतु एक दूसरे स्थान पर उन्होंने गोपियों को लक्ष्मी का ही बहुरूप बताया है (समुदायरूपी लक्ष्मीः)। गोपियों को ब्रह्म की शक्ति भी समझा जा सकता है जो लीला के लिए बहुरूप हो गई है। इसी शक्ति को वल्लभाचार्य ने श्रुति और लक्ष्मी और सूरदास ने श्रुति और देवता माना है। भगवान और उनकी शक्ति में कोई भेद नहीं, अतः कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं, वे ब्रह्म के ही अंग हैं। इसी कारण सूरदास ने उन्हें कृष्ण की तरह उपास्य माना है।

राधा भगवान की शक्ति, प्रकृति अथवा माया की प्रतीक है परंतु काव्य के भक्तिपक्ष को देखते हुए राधा का दूसरा प्रतीकार्थ भी निकाला जा सकता है। राधा अनुग्रह-प्राप्त भक्त का प्रतीक है जो आसक्ति की अनेक दशाओं को प्राप्त होता हुआ परम विरहासक्त हो जाता है। उस समय वह इद्रियों के विषयों से ऊपर उठ जाता है और उसका अस्तित्व केवल 'विरह की पीर' मात्र रह जाता है। इसीलिये सूरदास ने कहा है—

सोरह सहस पीर तन एकै
राधा जिव सब देह
(सूरसागर स्कं० १०, पद २६)

एक प्रकार से यही बात सन्त और सूफ़ी कवियों ने भी कही थी। सूरदास ने जिसे राधा के प्रतीक में स्पष्ट किया है उसी भाव को स्पष्ट करने के लिए जायसी ने नागमती की कल्पना की थी और सन्त कवियों ने स्वयं अपने को 'राम की बहुरिया' बना कर विरह की उच्चतम अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा की थी। वैष्णव कृष्ण-भक्त का चरम लक्ष्य यह था कि वह कृष्ण की अन्यतम गोपी बन जाय। भागवत में हम इस अन्यतम गोपी का परिचय पाते हैं। वहाँ उसके

प्रतीकार्थ स्पष्ट हैं। जयदेव ने भी अन्यतम गोपी का वर्णन किया है जो विशेष रूप से कृष्ण की कृपापात्री है परन्तु भक्त की सारी अवस्थाओं की व्यंजना तब भी नहीं हो सकी थी। सूरदास ने राधा को इस अन्यतम गोपी का स्थान दिया और उसी में भक्ति की पूर्णता की कल्पना की। इस राधा की देह में सोलह हज़ार देहों की पीर थी। तभी उसने कृष्ण की प्राप्ति की। भक्त भी विरहासक्ति की इसी उच्च दशा को प्राप्त करना चाहता है।

मुरली कृष्ण की अन्यतम शक्ति है जो स्वयं उन्हें प्रेरित करती है। दर्शन-सम्बन्धी सिद्धांतों में मुरली को भगवान की माया कहा गया है। यहाँ इतना और कह देना है कि माया से तात्पर्य भगवान की शक्ति से है। इस शक्ति के दो पक्ष कल्पित किये गये हैं। एक पक्ष श्रेय की उत्पत्ति करता है, दूसरा प्रेय की। श्रेय को उपनिषदों ने 'पराविद्या' और प्रेय को "अपराविद्या" कहा है। आधुनिक परिभाषा में हम इन्हें विद्या और अविद्या कह सकते हैं। इंद्रियाँ और संसार तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं का ज्ञान अविद्या है। ब्रह्म का ज्ञान विद्या है। जो माया अविद्या को उत्पन्न करती है वही ईश्वर का अनुग्रह होने पर विद्या को उत्पन्न करती है और इस प्रकार भक्त को भगवान से मिलाने का साधन बन जाती है। माया के इस रूप को दार्शनिक परिभाषा में 'योगमाया' कहा गया है। मुरली की इस अति-प्राकृत विशेषता का वर्णन सूर के उन पदों में मिलता है जिनमें उन्होंने मुरली के प्रभाव का वर्णन किया है—

मेरे सांवरे जब मुरली अधर धरी
सुनि ध्वनि सिद्ध समाधि टरी

सुनि थके देव विमान। सुर वधू चित्र समान
ग्रह नक्षत्र तजत न रास। यही बँधे ध्वनि दास
सुनि आनँद उमरि भरे। जल थल के अचल टरे

चराचर गति विपरीति। सुनि वेद कल्पित गीत
झरना झरत पाषान। गन्धर्व मोहे कलगान
सुनि खग मृग मौन धरे। फल तृण सुधि बिसरे
सुनि धेनु अति थकित रहीं। तृण दन्तहु नहीं गहो
बछरा न पीवे छीर। पंछी न मन में धीर
द्रुम बेलि चपल भये। सुनि पल्लव प्रगट नये
जो विटप चंचल पात। ते निकट को अकुलात
अकुञ्जित जे पुलकित गात। अनुराग नैन चुचात
सुनि चंचल पवन थके। सरिता जल चल न सके

(सूरसागर, पृ० १६८ पद ६)

यदि हम दर्शन को अधिक स्पष्ट करना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि मुरली के रूपक द्वारा सूरदास में शब्द-ब्रह्म की महत्ता स्पष्ट की है। संत-साहित्य में शब्द और शब्द-ब्रह्म से परिचय देने वाले सद्गुरु का बड़ा महत्व है। सूरसागर में इन दोनों विषयों का कम महत्व नहीं है। निर्गुण मत की अनेक भावनाएँ सगुण उपासकों ने ग्रहण कर ली थीं और उन्हें अपने ढंग पर विकसित किया था। इनमें शब्द-ब्रह्म की भावना भी थी। संभव है, शब्द की महत्ता सन्त-साहित्य से न ली जाकर उपनिषद् और टीका-ग्रंथों से ली गई हो। परन्तु यह अवश्य है कि वल्लभाचार्य और सूरदास दोनों ने शब्द-ब्रह्म को मुरली के रूपक द्वारा उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

रास कृष्ण-लीला का प्रधान अङ्ग है। वह भगवान् की क्रीड़ा है। दार्शनिक पक्ष में वह सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव का रूपक है। उस चिदानन्द सत्ता के लिए सृष्टि और प्रलय का कोई अर्थ नहीं। जिस प्रकार महान समुद्र में आवर्त अथवा बुदबुद उठा करते हैं और लोप हो जाया करते हैं उसी प्रकार उस चित्सत्ता से जड़ और चेतन का जन्म और विकास होता है और अन्त में सब दृष्ट जगत उसी चित्सत्ता में लुप्त हो जाता है। वास्तव में यह सब लीला

मात्र है। इसके पीछे न कोई प्रयोजन है, न कोई सत्य। रासलीला में कृष्ण परब्रह्म हैं और गोपियाँ और राधा उन्हीं से विकसित जीवात्मा के रूपक हैं। लीला-मात्र के लिए उनका जन्म होता है। तदनन्तर वे उसी में लय हो जाते हैं। यह रास सारी सृष्टि में व्याप्त है और अनन्त देश और अनन्त काल में सदैव होता रहता है। ब्रह्म से जीव उत्पन्न होता है और अन्त में उसी में लय हो जाता है। साधारण मनुष्य इस भेद को नहीं समझ पाते। इसलिए भगवान् गोपियों की उत्पत्ति करके रूपक के रूप में अपनी लीला भक्त के सामने रखते हैं। जो मनुष्य लीला के वास्तविक अर्थ को समझ लेता है वह उसमें भाग लेने लगता है और भगवान् से भिन्न नहीं रह जाता। लीला द्वारा भक्त भगवान् को प्राप्त करता है। भक्त के दृष्टिकोण से लीला का यही प्रयोजन है। भगवान् के लिए जो प्रयोजनहीन है वही बात भक्त के लिए अपार महत्व ग्रहण कर लेती है।

रास की यह लीला इतनी अलौकिक है कि संतों के शब्द में यह गूँगे का गुड़ है। सन्तों ने भगवान के मिलन के जिस अलौकिक सुख का अनुभव अपने भीतर किया था, वैसा ही अनुभव कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण की लीला में पाया। यह सुख अनिर्वचनीय है। जो एक बार भगवान की लीला (क्रीड़ा) में भाग लेते हैं, वही इसको समझ पाते हैं। भगवत् मिलन का सुख एतर-इन्द्रिय है। उसका अनुभव भगवान की अनुकम्पा के बिना तो हो ही नहीं सकता। इसीलिए भक्त रास की रंगस्थली वृन्दावन, यमुनातट, तमाल-कुञ्ज और उन गोपी-गोपिकाओं को धन्य कहते हुए नहीं थकता जो इस रास में भाग लेते हैं और जिन्हें भगवान का अनुग्रह प्राप्त हुआ है। उसका लक्ष्य यह है कि वह उन गोपियों से तादात्म्य स्थापित कर ले और रास में भाग ले। सन्त-साहित्य में निर्गुणियों को होली, फाग व बसन्त खेलते हुए पाते हैं। सन्त हिंडोले के ऊपर झूलता है। यह हिंडोला भगवान की भक्ति के साधन का प्रतीक है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवि रास, होली और

फगुआ में मानसिक भाग लेकर भगवत्-मिलन के आनन्द की प्राप्ति करता है। वास्तव में जिस प्रकार सन्तों का परब्रह्म धाम या ब्रह्मरंध्रलोक है, इसी प्रकार सूरदास और अन्य कृष्ण-भक्तों ने गोलोक-धाम की कल्पना की है। भगवान की लीला की नित्यता और उसकी अलौकिकता को घोषित करने के लिए ही सूरदास ने लिखा है—

नित्य धाम वृंदावन श्याम
नित्य रूप राधा ब्रजवाम
नित्य रास जल नित्य विहार
नित्य मान खंडिताभिसार
ब्रह्म रूप एई करतार
करणहार त्रिभुवन संसार
नित्य कुञ्ज सुख नित्य हिंडोर
नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर
सदा बसन्त रहत तहँ बास
सदा हर्ष जहँ नाहिं उदास

(सूरसागर, स्कं० १०, पद ७२)

सूरदास ने जिस वृन्दावन की कल्पना की है वह पार्थिव होते हुए भी अपार्थिक है। अलौकिक लीला का रंगस्थल लौकिक नहीं हो सकता। सुबोधिनी में वल्लभाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

सर्वतत्वेषु यो विष्ट: स भूमावपि संगत: ।
स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृत: ॥

(जो समस्त तत्त्वों में प्रविष्ठ है वही भूमि में भी प्रवेश किये हुए है। वह नित्यप्रति कहीं-न-कहीं है। जिस स्थान पर वह है, उसे मथुरा कहकर स्मरण किया जाता है)। इस वृन्दावन में कृष्ण की लीला सदैव चलती रहती है। एक प्रकार से वृन्दावन स्वयं भावुक हृदय का रूपक है।

यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्तों का रास वास्तव में ईश्वर-स्वीकृति का

रूप है जब भक्त और भगवान में अभेदत्व स्थापित हो जाता है। यह अभेदत्व किस प्रकार स्थापित किया जाये, यह समस्या है। भागवत्कार ने इस समस्या को रास की कल्पना द्वारा सुलझाया है जिसमें जीव और ब्रह्म में अत्यंत नैकट्य स्थापित हो जाता है। रास के इस आध्यात्मिक रहस्य से सूरदास भी परिचित थे। उन्होंने लिखा है—

रास-रस-रीति नहिं बरन आवै
कहाँ वैसो बुद्धि कहाँ वह मन लहौं
कहाँ इह चित्त जिय भ्रम भुलावै
जो कहौं कौन मानै निगम अगम सो
कृपा बिनु नहिं या रसहि पावै
(सूरसागर स्क० १०, पृ० ३४०, पद ९१)

रास की इस आध्यात्मिकता से नंददास भी भली भाँति परिचित थे। रासपंचाध्यायी का अंत करते हुए वे कहते हैं—

नित्य रास रमनीय, नित्य गोपी जनवल्लभ
नित्य निगम यौं कहत, नित्य नवतन अति दुलभ
यह अद्भुत रसरास कहत कछु कहि नहि आवै
सेस सहस मुख गावै, अजहूँ अंत न पावै
(५७३, ७७६)

ब्रह्म (कृष्ण) की इस अन्यतम एकांतलीला (रास) को अत्यंत निकट से देखे, यही पुष्टिमार्ग के कवि की अन्यतम साधना है। नंद-दास का एक पद है—

देखौ देखौ री नागर नट, निर्तत कालिंदी तट
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक
काछिनी किंकनी कटि, पीतांबर की चटक
कुण्डल किरन रवि रथ की अटक
ततथेई ताताथेई सबद सकल उघट
उरप तिरप गति परै पग की पटक

रास में राधे-राधे, मुरली म एक रट
नन्ददास गावै तहँ निपट निकट

यह लीला या रस-भाव ही भक्त का अंतिम ध्येय है।

कृष्ण-विरह की बड़ी सुन्दर व्याख्या नन्ददास ने अपने काव्य में की है। वास्तव में सूफी संप्रदाय की भाँति पुष्टिमार्ग में भी 'विरह की साधना' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिसे 'प्रेम की पीर' की साधना लिखा है) की प्रधानता है। इसी विरहसाधना को 'विरहमंजरी' और 'रूपमञ्जरी' की नायिकाओं के षट्ऋतु और बारहमासे से संकेतित किया गया है। इस विरह की साधना को ही प्रेमभक्ति, परमरस, परमकांत एकांत और उज्ज्वलरस कहा गया है। यह स्पष्ट है कि वल्लभ-कुल के भक्त कृष्ण के प्रति एकांत-निष्ट प्रेम को शृङ्गार (लौकिक प्रेम) से अलग करने के लिए बराबर शब्द गढ़ते रहे हैं जिससे उसकी अलौकिकता साधारण जनों के मन में पैठ जाये। यह रहस्य-लीला हीनश्रद्धा, निन्दक, नास्तिक, हरिधर्मवहिर्मुख मनुष्यों की समझ में नहीं आ सकती। यह तो भक्तों के लिए है। (रासपंचाध्यायी, ५८७-५९६)। कृष्णभाषा में शृङ्गार (माधुर्य) द्वारा साधना की जो व्यवस्था है, उसकी विशद व्याख्या हुई है। अणुभाष्य में वल्लभाचार्य ने भक्ति और शृङ्गार के द्वन्द को स्पष्ट रूप में रखा है—वस्तु तस्तु ग्रामसिंहस्य सिंहस्वरूपत्वेपि न तादृशयं वक्तु शक्य तथा लौकिक पुंसि नार्या या तदाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते तदृष्टान्तेन भगवद् भाववद भगवद्भक्तरीति भावनार्थं न त्वृष्तीणं लौकिके तात्पर्यं भवितुमर्हति (३-३-५७)। मधुरी भक्ति को कबीर के काव्य में ही हम रसशास्त्र (शृङ्गार) की सहायता से प्रकाशित होता हुआ पाते हैं। उन्होंने 'राम की बहुरिया' बनकर अदृष्ट सत्ता के प्रति वियोग और संयोग के गीत गाये हैं। आधुनिक विद्वान भी इस बात से सहमत हैं कि प्रेम की उच्चतम स्थिति का प्रकाशन प्रेमी-प्रेमिका के रूपक से ही हो सकता है—"मनुष्यों के संबंधों में सबसे घनिष्ट संबन्ध दाम्पत्य

प्रेम का है। ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध इससे ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। यही शृङ्गारी उपासकों की उपासना का मूलाधार है। जो संबंध हमारे ज्ञान में सबसे उत्तम हो, ईश्वर का संबन्ध उससे भी अधिक उत्तम होना चाहिये। यूरोप के ईसाई संप्रदाय ने भी स्वयं को मसीह की स्त्री माना है और दाम्पत्य प्रेम को प्रेम का आदर्श कहा है। सुलेमान का जो श्रेष्ठ गीत कहा जाता है, शृङ्गार की भाषा से परिपूर्ण है।"

(नवरस, पृ० १३६-१३७)

वल्लभाचार्य के समय में ही कृष्णकथा में शृङ्गार का मेल हो गया था। वास्तव में यह मेल पहले-पहल जयदेव के गीतगोविन्द ने स्थापित किया। विद्यापति, हरिवंश, हरिदास, तानसेन, सूरदास प्रभृति गायक-भक्तों ने जयदेव की शृंगार भक्ति (मधुराभक्ति) की परंपरा को तेज़ी से आगे बढ़ाया।

'पुष्टि' या ईश्वरानुग्रह की भावना ही रहस्यवादी है। साधनों द्वारा जो भक्ति प्राप्त होती है, वह मर्यादा-भक्ति है। पुष्टि-भक्ति साधन-निरपेक्ष है। भक्त को कुछ करने को नहीं रह जाता। अपनी ही शक्ति से, भक्त पर अनुग्रह करता हुआ, ब्रह्म भक्त को जो मुक्ति प्रदान करता है वह 'पुष्टि' कहलाती है। इसे ही वल्लभाचार्य ने 'निरोध' कहा है: 'निरोध' की साधना किस प्रकार रहस्यवादी है, यह स्वयं आचार्य के इस स्वकथन से स्पष्ट होगा—

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥
गोकुले गोपिकानं च सर्वेषां ब्रजवासिनाम्।
यत्सुख समभूतन्मे भगवान् किं विध्यास्यति।
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान यथा।
वृंदावन गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥

(जो दुःख यशोदा-नन्दादिकों एवं गोपजनों को गोकुल में हुआ था, वह दुःख मुझे कब होगा ? गोकुल में गोपीजनों एवं सभी ब्रजवासियों को जो भली भाँति सुख हुआ वह सुख भगवान कब मुझे देंगे ? उद्धव के आने पर जैसे वृन्दावन और गोकुल में महान उत्सव हुआ था, क्या वैसा मेरे मन में भी होगा ?) इस दुःख-सुख की अनुभूति को निरोध-भाव कहा गया है। इसी के द्वारा भगवान भक्त को लौकिक आसक्ति से बचाता है, ऐसा भाव जिसे प्राप्त हुआ, उसे निरोध प्राप्त हो जाता है। उसे कीर्तन एवं गुण (लीला)-गान ही करना रह जाता है। सूरदास ने आचार्य के निरोधतत्व को पहचाना और उन्होंने इसी के आधार पर 'सूरसागर' का निर्माण किया। भँवरगीत में भगवान के प्रति जीव के जिस निर्हेतुक समर्पण की व्याख्या है, उसके पीछे निरोध-भावना का ही बल है।

वास्तव में कृष्ण-भक्ति का प्राण मधुर भक्ति है। साधारण तौर पर मधुर भक्ति के अर्थ हैं—भगवान में प्रियतम या प्रियतमा भाव। कबीर और मीरां इसके श्रेष्ठतम उदाहरण हो सकते हैं। परन्तु कृष्ण भक्तों की भक्ति में मधुर भक्ति इस रूप से नहीं आई है। गोपियों की भक्ति भक्त का आदर्श है। वह स्वयं गोपी बनकर प्रियतम के रूप में कृष्ण को नहीं रिझाता। उसकी भक्ति मन का संकल्प है। भक्त अपने मन में गोपियों की सी मिलनाकांक्षा और वियोग का अनुभव करता है। यह भक्ति वह कैसे प्रगट करे ? क्या वह उस तरह का आत्माभिव्यक्ति प्रधान काव्य लिखे, जैसा कबीर के साहित्य में है ? वह ऐसा नहीं करता। वह अपना आत्मचिन्तन और आत्मसमर्पण गोपी-कृष्ण के प्रेम विरह में ही प्रगट करता है। गोपियों का मिलन-सुख साधक का संकल्पात्मक मिलन सुख है, उनका विप्रलम्भ इनका ही संकल्पात्मक वियोग है। इसी प्रकार कवि की सत्ता उसके काव्य में ही प्रतिष्ठित है। कृष्ण-भक्ति काव्य में मधुर भक्ति या रहस्यवाद का वही रूप है। राधा-कृष्ण और गोपियों का जो संयोग-वियोग शृंगार है, वही इन साधकों को लेकर

भक्ति है। उनकी तटस्थ भाव से इस लीला में भाग लेने और उसको आत्मा में अनुभव करने की भावना ही इसे भक्ति बना देती है। कबीर कहते हैं—

बालम आयो गेह रे
तुम बिन दुखिया देह रे

गोपियों का यह भाव इसी प्रकार यों है—

आज मेरे धाम आये री नागर नन्द किसोर
धन दिवस धन रात री सजनी धन माय सखी मोर
मंगल गावौं चौक पुरावौं बंदनवार बंधावो पौर
नन्ददास प्रभु संग रस बस कर जागत करहूँ भोर

दोनों भावनाओं में कोई अन्तर नहीं है। हाँ, गोपीकृष्ण या राधाकृष्ण का आश्रय ले लेने से संयोग-वियोग प्रसंग और भी विस्तृत, विशद और नैकट्यपूर्ण रूप से प्रकट हो सका है।

तुलसी के कुछ आलोचकों ने रामचरितमानस के भीतर किन्हीं सन्निहित प्रतीकार्थ अथवा साधनार्थ के उद्घाटन की चेष्टा की है। इन लोगों का प्रयत्न बहुत कुछ इसी प्रकार के अर्थ निकालने का है जो जायसी के 'पद्मावत' के अंत में स्वयम् कवि ने दे दिये हैं और जो सूफ़ी साधना-पद्धति को हमारे सामने रखते हैं। वाल्मीकि रामायण में इस तरह के कोई प्रतीक नहीं हैं, न अध्यात्म रामायण में हमें इनके दर्शन होते हैं, परन्तु रामोपासक संप्रदाय का एक वर्ग रामचरित को साम्प्रदायिक अर्थ में ही लेता रहा है जो एक प्रकार से प्रतीकार्थ या साधनार्थ ही है। श्री १०८ स्वामी प्रकाशानंद जी महाराज ने 'आत्मरामायण' में रामकथा के कुछ प्रतीक स्थापित किये हैं। इन प्रतीकों को रामकथा पर घटाने की चेष्टा करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से बहुत से केवल कल्पना के आधार पर खड़े किये गये हैं। अन्य यद्यपि ठीक उतरें, तो भी उनसे कथा को नया रूप मिलने

के सिवा और कोई विशेष बात सामने नहीं आती। राम-रावण का युद्ध ज्ञान-अज्ञान का संघर्ष मात्र रह जाता है। कोई साधना-पद्धति नहीं बनती।

मानस में एक परिपूर्ण साधना-पद्धति स्थापित करने की चेष्टा डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने तुलसी-सम्बन्धी अध्ययन में की है। कई दृष्टियों से यह एक नया प्रयत्न है। उनका आधार "नाम-माहात्म्य" प्रकरण (बा० २५, २६, २७ दोहे और उनकी चौपाइयाँ) हैं। परन्तु किसी भी प्रकार की रूपक-पद्धति सामने लाने में वह असफल रहे हैं। रामचरित जैसी बृहद् कथा में जो एक बड़ी पट-भूमि पर अनेक पात्रों एवं रसों के साथ-साथ आगे बढ़ती है, किसी प्रकार की रहस्यवादी रूपक-पद्धति खोज निकालना असंभव है। हमारे यहाँ की प्रवृत्ति यह रही है कि हम प्रत्येक स्पष्ट विषय को भी अपनी सूक्ष्मान्वेषिणी एवं तर्क-प्रधान बुद्धि द्वारा अगम्य एवं रहस्यमय बनाते रहे हैं। तुलसी जैसे रामभक्त, स्पष्टवादी एवं जागरूक साधक के काव्य में सूफ़ी कवियों जैसी रहस्यपद्धति खोजना व्यर्थ को उधेड़-बुन है। डा० गुप्त ने इस साधना-पद्धति को विशेष बल देकर उपस्थित भी नहीं किया है। तुलसी की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि किसी विशेष राम-संप्रदाय की ओर उनका आग्रह न था, न उन्होंने किसी संप्रदाय की नींव डाली। परन्तु बाद में अयोध्या में उनके काव्य एवं उनकी साधना को लेकर संप्रदाय चल पड़े। इन संप्रदायों पर अपने समय की बलवती धाराओं का प्रभाव पड़ता अनुचित नहीं है। दूसरे, कोई भी साधना संप्रदायबद्ध होकर रहस्य, प्रतीक अथा 'गुह्य' की ओर झुकती है।

बात यह है कि स्वयम् मानस के अनेक स्थलों से पाठक भ्रम में पड़ जाता है कि वह जो कुछ पढ़ रहा है उसके पीछे कहीं दूसरे ही अर्थ तो नहीं हैं। तुलसीदास स्थान-स्थान पर कह देते हैं कि रामकथा वास्तव में रहस्यकथा है—

सूझहि रामचरित मन मानिक
गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक
(बाल० ८)

करन चहहुँ रघु पति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा
(बाल० २-५)

जेहि यह कथा सुनो नहिं कोई। जनि आचरजु करै सुनि सोई
कथा अलौकिक सुनहि जे ग्यानी। नहिं आचरज करहिं असजानी
रामकथा के मिति जग नाहीं। असि प्रतीत तिन्ह के मन माहीं
नाना भाँति राम अवतारा। रामायण शत कोटि अपारा
कल्पभेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए
करिअ न संशय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी
राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा विस्तार
सुनि आचरजु न मानहहिं जिन्हके विमल विचार
(बा० ३२-५-३३)

वास्तव में तुलसी ने रामकथा को 'रहस्य' के रूप में ही देखा है और वे इस बात को श्रद्धालु पाठक को स्पष्ट करना चाहते हैं। रामकथा को तुलसी ने किस प्रकार साधारण नर-काव्य से उठाकर रहस्यमय और अलौकिक बना दिया, यह हम उत्तरकांड में देख सकते हैं—

(१) यह अलौकिक का चरित्र है।[1]

(२) यह ब्रह्म की लीला है। ब्रह्म स्वयं अज्ञेय है, अतः उसकी लीला भी अज्ञेय है।

(३) यही लीला सदैव एक-सी नहीं रहती। यह नानात्व-प्रधान है।[2] ब्रह्मांड अनन्त हैं। प्रत्येक ब्रह्मांड में अयोध्यापुरी, सरयू तथा

---

१ "कथा अलौकिक"

२ एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा
व्यापक बिस्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना
(बाल० १६)

अन्य तीर्थादि हैं और उनके ही अंश-रूप भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी सदा उनके साथ ही जन्म लेते हैं। तुलसी की कल्पना के अनुसार राम प्रत्येक कल्प में अवतार लेते हैं। इस अनन्तता अर्थात् स्थान-विशेष और काल-विशेष के प्रभाव के बाहर होने के कारण ही राम-चरित उसी प्रकार अगम, रहस्यमय और अनुभूति साध्य है जिस प्रकार आजकल के वैज्ञानिकों की सृष्टि-विषयक धारणा।३ ४

(४) निर्गुण ब्रह्म का सगुण हो जाना ही रहस्यात्मक है। वास्तव में अवतार की भावना ही रहस्यमयता पर स्थित है।५ तभी

---

३ नाना भाँति राम अवतारा
कल्पभेद हरि चरित सुहाए

४ उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया
अंडकोस प्रति-प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नरनारी
दशरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखेउं बालविनोद अपारा

भिन्न-भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरि जान
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन

(उत्तर० ८१)

५ भागवत के १०वें अध्याय का एक श्लोक है—

तथापि भूयन् महिमायुगणस्यते
विबोद्धुमर्हत्य कलांतरात्मभिः॥
अविक्रियात्स्वानुभवाद रूपतो,
ह्यनन्य बोधात्मतया न चान्यथा
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य॥

तो "जन्म होना" न कहकर "प्रगट होना" कहा गया है। जैसे कृष्ण के सम्बन्ध में भागवतकार ने कहा है—

> न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
> पूर्वापरं वहिश्चांतर्नगतो यो जगच्च यः॥
> त मत्वा ऽऽत्यजमव्यक्त मर्त्यलिङ्गः मधोक्षजम्।
> गोपिकालूखलो दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥
> (१० । ६ । १३-१४)

(जिसका भीतर बाहर नहीं है, पूर्व-पश्चात नहीं है, इतने पर भी स्वयं ही जगत के भीतर है और बाहर भी, तथा आदि में भी है और अन्त में भी है, यहाँ तक कि जगत-रूप में भी विराजमान है, जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है भगवान के मनुष्याकार धारण करने से उसे अपना पुत्र मान कर यशोदा ने प्राकृत बालक की तरह रस्सी से ऊखल में बाँध रखा है।)

वैसे ही रामावतार आयोजित होता है।[६] इसीलिए तुलसी ने भगवान् को अयोध्या में ही छोड़कर रामकथा की समाप्ति कर दी है जैसे उनकी रामकथा को समाप्त करने से राम के जीवन-कार्यों में एक बार फिर रहस्य की स्थापना हो जाती है।

> कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै
> र्भूयासवः खे महिकाश्च भासः॥

(हे परिच्छेद-रहित, इस प्रकार आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ज्ञान होना कठिन है और भक्त से ही आप जाने जाते हैं, तो भी निर्मल अंतःकरण वाले जितेन्द्रिय महात्मा पुरुष आत्माकार अंतःकरण से, साक्षात्कारता से, कुछ-कुछ अरूपता से, अनन्य बोध-से, कुछ-कुछ आपकी महिमा को जान सकते हैं। परन्तु और किसी प्रकार से आप जानने में नहीं आते…)

६ भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी
हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप विचारी

पर चरित्र ही अलौकिक है। वास्तव में जिस प्रकार सूरदास ने कृष्ण के जीवन को भागवत की अलौकिकता और रहस्यमयता से मुक्त कर उन्हें यथार्थ के स्पर्श से सामान्य मनुष्य—बालक और प्रेमी के धरातल पर खड़ा करने की चेष्टा की है, उसके ठीक विपरीत। तुलसी का प्रयास है जिन्होंने राम के चरित्र को लोकोत्तर बनाने की चेष्टा की है। इस कारण भी कुछ रहस्यमयता आ गई है।७

---

७ तुलसी ने रामकथा में राम के प्राकृतिक मानव रूप की स्थापना तो की है, परन्तु साथ ही अनेक गुप्त चरित भी उसमें गूंथ दिये है। ये गुप्त चरित इस प्रकार हैं—

१—छन महँ सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना।

२—गुरुहि प्रणाम मनहिं मन कीन्हा।

३—सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दिये।

४—कागभुशुण्डि की कथा (उत्तर कांड)

५—छाया-सीता की प्रतिष्ठा।

इस प्रकार गुप्त और प्रगट चरित्रों को लिए तुलसी की राम-कथा दो धरातलों पर चलती है। प्रगट चरित्र को लेते हुए राम पूर्ण रूप से मानव हैं, परन्तु गुप्त चरित उन्हें क्षण भर में मानवेतर बना देता है। ी ने स्वयं कहा है—

अति विचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमन्द विमोह बस, हृदय धरहिं कछु आन॥
उमा राम गुण गूढ़, पंडित सुनि पावहिं विरति।
पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि-विमुख न धरम रति॥

बालकाण्ड में शिवा-शिव से राम-सम्बन्ध में अपना संदेह इस प्रकार प्रगट करती है—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल' अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहिं न जानत वेद॥

(६) तुलसी स्थान-स्थान पर लौकिक चरित्र के साथ कहते चलते हैं कि यह तो अलौकिक क्रीड़ा मात्र है। वह रामचरित की अलौकिकता और रहस्यमयता का भुला देना नहीं चाहते । इसीलिये वह पाठक से श्रद्धा को याचना करते हैं। रहस्य की रचना अध्यात्म में भी यथेष्ट यात्रा में मिलती है । यदि तुलसी राम के सम्बन्ध में रहस्य की भावना उत्पन्न करने में किसी के ऋणी हैं तो अध्यात्मकार के। सच तो यह है कि चरित्र को रहस्यमय बनाये बिना श्रद्धा को पुष्ट नहीं किया जा सकता। भक्ति हृदय का विषय है। उसका आधार बुद्धि नहीं, श्रद्धा है। श्रद्धाभाव के कारण ही राम का चरित्र बुद्धि को अग्राह्य होने पर भी सहजग्राह्य हो जाता है, यह तुलसी का तर्क है।

(६) अंतिम बात यह है कि रामकथा भक्ति-दायिनो है और भक्ति की कल्पना रहस्यवादी होने के कारण रामकथा में भी रहस्यवादिता आ जाती है।

प्रोफेसर रानाड़े ने "महाराष्ट्र में रहस्यवाद" नाम की अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक में निर्गुण संतों के साथ सगुण भक्तों को भी रहस्यवादी माना है। एक दृष्टिकोण से यह ठीक भी है। मध्ययुग की भक्तिधारा श्रद्धा के आधार पर थी। उसके आलम्बन या आश्रय अलौकिक चरित्र थे। उपास्य देवता के आगे मन, बुद्धि और बचन सभी प्रकार आत्म-समर्पण कर देना ही मुख्य भाव था। चाहे भक्त दास्य-भावना को

इसके उत्तर में शिव कहते हैं—

> मुनि धीर जोगी सिद्ध सन्तन विमल मन जेहि ध्यावहीं ।
> कहि नेति निगम पुराण आगम जासु कीरति गावहीं ॥
> सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया-धनी ।
> अवतरेहु अपने भगतहित निज तंत्र नित रघुकुलमनी ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम का मानव चरित्र लिखते हुए भी तुलसी ने उन्हें पद-पद पर लोकोत्तर बना दिया है।

मानता हो, चाहे मधुर भाव का उपासक हो, यह आत्मसमर्पण ही उसकी प्रवृत्ति के मूल में रहता था । रहस्यवादियों में भी श्रद्धा द्वारा आत्मसमर्पण की ही प्रधानता मिलती है। इस दृष्टिकोण से रामभक्त और कृष्ण भक्त भी रहस्यवादी हो जाते हैं। परन्तु सगुण भक्तों और निर्गुण रहस्यवादियों की तुलना यहीं पर समाप्त हो जाती है। सगुण भक्तों ने अपने चरित्रों की कथा के पीछे कोई प्रतीक नहीं चलाये, न साधना-पद्धति ही उपस्थित की। एक तो कथा में प्रतीक की भावना उत्पन्न करने से उसके प्रवाह में बाधा पड़ती, दूसरे यह आवश्यक ही नहीं था। सूफ़ियों को एक विशेष साधनापद्धति का प्रचार करना था। भक्तों के लिए भक्ति ही साधना थी जिसके आधार के लिये या "स्वांतः सुखाय" अपनी भक्ति-भावना को पुष्ट करने के लिए साधना-रूप में उन्होंने अपने काव्य की रचना की। "मानस में कोई काल्पनिक रूपक नहीं बाँधा गया है। यद्यपि आदि से अन्त तक कथा-प्रवाह के साथ-साथ आध्यात्मिक भाव की धारा भी उमड़ती गई है।" ८ नाम-महात्म्य प्रकरण के आधार पर मानस में रूपक (प्रतीक) की खोज करना ठीक नहीं है। तुलसी ने राम के नाम को राम से बड़ा अवश्य कहा है। अक्षर ब्रह्म की कल्पना के मूल में भी नाम की महत्ता ही है।९ तुलसी ने राम-कथा कहने के बाद राम-नाम की महत्ता लिखकर

---

८ राम चरित मानस की कुछ विशेषताएं—कल्याण, भाग १३, सं० ३

९ नामैव तव गोविन्द कलौ तस्वतः शताधिकम्।
ददात्युच्चारणान्मुक्ति विना अष्टाङ्गयोगतः ॥
(भृगु)

गोकोटिदानं गृहेषु काशी प्रयाग गंगा युत कल्पवासः।
यज्ञायुतं मेरु सुवर्ण दानम् गोविन्द नाम्ना न कदापि तुल्यम् ॥
(अत्रि)

शास्त्र-विहित कार्य किया है। हाँ, यदि उन्हें निर्गुणवादियों के "नाम के महत्व" को ध्यान में रखकर उनकी साधना को भी सगुण राम-भक्ति में मिलाने की प्रेरणा न होती तो वह इतना अधिक महत्व इस प्रसंग को नहीं देते। परन्तु जहाँ उन्होंने निर्गुणवादियों की निन्दा की है, वहाँ उनको राम-धर्म में दीक्षित करने की भी चेष्टा की है। यह उनकी पद्धति को आत्मसात करके अपरोक्ष रूप में। नाम-प्रकरण की रचना के पीछे ऐसी ही कोई भावना हो सकती है। सारी राम-कथा कह कर फिर उस पर रूपक का आरोप करना और कथा को प्रतीक-रूप में उपस्थित करना असंभव था।

परन्तु राम-कथा के पीछे आध्यात्मिक रूपक का आरोप करने की थोड़ी भी चेष्टा तुलसी में न हो, ऐसी बात नहीं विनय-पत्रिका का एक पद है—

मोह दशमौलि, तद्भ्रांत अहङ्कार
परकारिजित काम विश्रामहारी
लोभ अतिकाम, मत्सर, महोदर दुष्ट
क्रोध पापिष्ठ विबुधान्तकारी
द्वेष दुर्मुख दंभ खर अकम्पन कपट
दर्प मनुजाद मद शूलपानी
अमित बल परम दुर्जय निशाचर निकर
सहित षडवर्ग गो जातुधानी
जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषण बसत
मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता

अक्षरं हि पर ब्रह्म गोविन्देत्यक्षरं त्रयम्।
तस्मादुच्चरितं येन ब्रह्म भूयाय कल्पते॥
(शिव संहिता)

नियम यम सकल सुरलोक लोकेश
लंकेश-बस नाथ अत्यंत भीता

(पद ५८)

परन्तु व्यापक रूप से इस प्रकार के रहस्यवादी आध्यात्मिक रूपकों का आरोप तुलसी का विशेष प्रिय नहीं जान पड़ता। परन्तु यह निश्चित है कि उनकी रामकथा केवल राम-रावण-युद्ध की कथा नहीं है। तुलसी की राम की कल्पना अत्यन्त महान है। वह मानव भी हैं और मानवेतर भी हैं। इसी से उनके कुछ चरित प्रगट, कुछ गुप्त कहे गये हैं। इस प्रकार गुप्त और प्रगट चरित्रों को लिये हुए तुलसी की राम कथा दो धरातलों पर चलती है। प्रगट चरित्र को लेते हुए राम पूर्ण रूप से मानव हैं। परन्तु गुप्त चरित्र उन्हें क्षण भर में मानवेतर बना देता है। राम के प्रगट चरित्र के जो दोष दिखलाई पड़ते है, तुलसी राम की अलौकिकता दिखाकर उनका परिहार कर देते हैं। तुलसी ने रामचरित मानस की कथा में और अवतार प्रसंगों में राम-तत्व और सीता-तत्व की विशद व्याख्या की है। मानसारम्भ में वे राम की बन्दना करते हुए कहते हैं—

यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा
यत्सत्त्वाद मृषैव भांति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः
यत्पादप्लव मेकमेव हि भवाम्भोधेस्ति तीर्षावतां
बन्देऽहं तमशेष कारण परं रामाख्यमीशं हरिम्

और सीता को वे साधक नामिका से ऊपर उठा देते हैं—

उद्भवस्थिति संहार कारिणीं क्लेश हारिणीम्
सर्व श्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रमबल्लभाम्

रामचरित मानस का विशद अध्ययन करने से यह पता चलता है कि तुलसी के राम का सर्वोपरि रूप निर्गुण ब्रह्म (राम) है जो साधारणतः अज, अगम, अगोचर, सर्वव्यापक है, स्वयम् अकर्ता हैं, उनकी

प्रकृति काम करती है। परन्तु भक्त के वश में हो अथवा अन्य कारणों से यह निर्गुण राम सगुण राम का रूप ग्रहण कर लेते हैं। सगुण राम का रूप ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार दाशरथि राम का। वह अनादि,अनन्त, सर्वपर हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश उनकी पूजा करते हैं। वह काल और देश से परे हैं (देखिये कागभुशुण्डि-प्रसंग)। इस रूप में प्रकृति या माया के स्थान पर सीता हैं। यह सगुण राम। साकेत धाम में निवास करते हैं। यही सगुण ब्रह्म दाशरथि राम के रूप में अनेक देशों और अनेक कालों में अवतार लेता है और वह लीला करता है जो राम-कथा के नाम से प्रचलित है। सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म में प्रकृत्यः कोई अन्तर नहीं है—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे
(बाल० ११६)

इस प्रकार दाशरथि राम, सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म की एकात्मता वास्तव में रहस्यकल्पना है। इसी रहस्यकल्पना के कारण रामकथा में रहस्यवाद की अवतारणा हो जाती है। जब राम कथा की प्रस्तावना में तुलसी कहते हैं—

सियाराम मय सब जग जानी
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी

तो वह रहस्यवाद से ही अनुप्राणित समझे जायेंगे। वास्तव में भक्ति की जिस तन्मयता के दर्शन तुलसीदास की रचनाओं में होते हैं, उसके कारण उनकी सगुण भावना में भी रहस्यवादिता आ जाती है। तुलसी कहते हैं—

मन इतनोई या तनु को फल
सब अंग सुभग बिंदु माधव छवि तजि सुभाउ अवलोकु एक पल

तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु नखदुति हृदय तिमिर हारी
कुलिस केतु जव जलज रेख वर अंकुस मनगज बसकारी
कनक जटित मनि नूपुर मेखल कटि तट रटति मधुर बानी
त्रिबली उदर गँभोर नाभि सर जहँ उपजे विरंचि ग्यानी
उर बनमाल पदिक अति सोभित विप्रचरन चित कहँ करषै
स्याम ताम रस दाम बरन वपु पीत वसन सोभा बरसै
कर कंकन केयूर मनोहर देति मोद मुद्रिक न्यारी
गदाकंज कर चारु चक्रधर नागसुंड सम भुज चारी
कंबु ग्रीव छवि सीव चिबुक द्विज अधर अरुन उन्नत नासा
नव राजीव नयन ससि आनन सेवक सुखद विसद हासा
रुचिर कपोल स्रवन कुण्डल सिर मुकुट सुतिलक भाल भ्राजै
ललित भृकुटि सुन्दर चितवनि कच निरखि मधुप अवली लाजै
रूप सील गुन स्वामि दच्छ दिसि सिंधु सुता रत पद सेवा
जाकी कृपा कटाच्छ चहत बिधि मुनि मनुज दनुज देवा
तुलसीदास भवत्रास मिटै तब जब मति एहि स्वरूप अटकै
नाहित दीन मलीन हीन सुख कोटि जन्म भ्रमि भ्रमि भटकै

इस प्रकार की तन्मय-प्रधान रूपासक्ति सगुण भावना को साकर पूजोपासना से ऊपर उठाकर उस ऊँचे स्तर पर पहुचा देती है जहाँ रहस्यवाद का जन्म होता है। तुलसी की रामभक्ति का रूप अत्यन्त तीव्र आसक्ति है। उन्होंने चकोर के चन्द्रमा प्रति प्रेम और चातक के मेघ के प्रति प्रेम को आदर्श प्रेम माना है। चातक के अनन्य प्रेम के सम्बन्ध में उनके अनेक दोहे मिलते हैं। चातक-प्रेम तुलसी की रामभक्ति का प्रतीक है—

उपल वर्ष गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर
पवि वाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि
रोवत प्रीतम दोष लखि तुलसी रामहिं रीझि

इतनी उच्च प्रेम-भूमि और रहस्यवाद में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वास्तव में मध्ययुग की भक्ति की पूर्ण व्याख्या उसी समय होती है जब हम उसके इस तन्मयता-प्रधान रहस्यात्मक रूप को सामने रखें। उस समय भक्तों की इष्टदेव के प्रति अनुभूति और सन्तों की ब्रह्मानुभूति में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता।

सन्तों और भक्तों के बीच भावना की जो रूपरेखा है वह हमें मीरा में मिल जाती है। जहाँ एक ओर वे 'निर्गुण' की आर्चना करती दिखलाई पड़ती हैं, वहाँ दूसरी ओर 'गिरिधरलाल' (सगुण कृष्ण) के प्रेम में डूबी सामने आती हैं। तुलसीदास और सूरदास ने स्पष्ट कहा है कि भक्त की भावना से निर्गुण ब्रह्म सगुण हो जाता है। बात तो भावना की है, ग्रहण करने की है, फिर जिस रूप में उस एकतत्त्व (ब्रह्म) को ध्यान करो, उसी रूप में वह प्राप्य है। मीरा में यह सगुण-निर्गुण का द्वैत हल हुआ दिखलाई पड़ता है। उनमें सगुण और निर्गुण रहस्यवाद की समस्या का भी निराकरण हो जाता है। कभी वे कहती हैं—

रमैया बिन नींद न आवै
नींद न आवे बिरह सतावे, प्रेम की आँच ढुलावै ॥टेक
बिन पिया जोत मँदिर अँधियारो, दीपक दाय न आवै
पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रेण बिहावै
पिया कब रे घर आवै

दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल सबद सुणावै
घुँमट घटा ऊलर होइ आई, दामिन दमक डरावै
नैन झर लावै

कहा कहूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, बेदन कूण बतावै
विरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिब जावै
जड़ी घस लावै

कोई है सखी सहेली सजनी, पिया कूँ आन मिलावै
मीरा कूँ प्रभु कबरे मिलोगे, मनमोहन मोहि भावै
कबै हँस कर बतलावै

कभी 'गिरिधर गोपाल' के प्रति अनन्य भावना में भर कर गाने लगती हैं—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई
छाँड़ि दई कुल की कानि, कहा करिहै कोई
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई
अँसुवन जल सींचि-सींचि, प्रेम बेलि बोई
अब तो बेल फैल गई, आणँद फल होई
भगति देखि राजी हुई, जगत देखि रोई
दासी मीरा लाल गिरधर, तारो अब मोहीं

यह 'गिरिधर गोपाल' ऐतिहासिक और पौराणिक कृष्ण से भिन्न नहीं है। मीरां स्पष्ट कहती हैं—

मेरो मन बसिगो गिरिधर लाल सों ॥टेक
मोर मुकुट पीताम्बर हो, गल बैजंती माल
गउवन के सँग डोलत, हो जसुमति को लाल
कालिंदी के तीर हो, कान्हा गउवाँ चराय
सीतल कदम की छाहियाँ, हो मुरली बजाय
जसुमति के दुवरवाँ हो, ग्वालिन सब जाय
बरजहु आपन दुलरुवा, हमसों अरुझाय
वृंदावन क्रीड़ा करै, गोपिन के साथ
सुर नर मुनि मोहे हो, ठाकुर जदुनाथ
इन्द्र कोप घन बरखो, मूसल जलधार
बूड़त ब्रज को राखेउ, मोरे प्रान आधार

मीरा के प्रभु गिरधर हो, सुनिये चितलाय
तुम्हरे दरस की भूखो हो, मोहि कछु न सुहाय

इन पौराणिक पुरुष कृष्ण से ही मीरा ने 'पति' का सम्बन्ध जोड़ा है। हो सकता है, केवल बुद्धितत्त्व के आधार पर यह बात असंभव ज्ञान पड़े, परन्तु जहाँ भावना ही प्रधान है, वहाँ कुछ भी असंभव नहीं। ईश्वर की कल्पना भी तो भावना ही है। हमारे लौकिक सम्बन्ध भी तो भावना पर ही आश्रित होते हैं। इसीसे यदि मीरा राधापति कृष्ण से 'प्रियतम' का सम्बन्ध जोड़ती है, तो यह उसी प्रकार की बात हुई जिस प्रकार संत ब्रह्म (राम) से 'बहुरिया' (बहू) का सम्बन्ध जोड़ता है। जान पड़ता है, मीरा का सन्बन्ध पहिले संत-संप्रदाय से थे। उन्हें रैदास से सम्बंधित बताया जाता है। परन्तु दोनों में काफ़ी काल-भेद है। मीरा के समय में राजस्थान में रैदासी संतों को धूम थी। संभव है, किसी रैदासी संत से मीरा ने दीक्षा ली हो और बाद में भावनातरेक के कारण स्वयं रैदास को अपना गुरु बताया हो। कदाचित निर्गुण-भावना परक मीरा के पद उनके प्रारंभिक पद हैं। एक पद में मीरा कहती है—

नैनन बनज बसाऊँ री, जो मैं साहिब पाऊँ ॥टेक
इन नैनन मेरा साहिब बसता, उठती पलक न जाऊँ री
त्रिकुटी महल में सुरत जमाऊँ, सुख को सेज बिछाऊँ री
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ री

यह "साहिब" ही बाद में "गिरिधर", "गोपाल", "कान्हा" होगया है। कुछ पदों में केवल "साहित्य" या "सतगुरु" के स्थान पर सगुण-परक शब्द मात्र आ जाता है—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं० ॥ टेक ॥
पचरँग चोला पहर सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती

जिनका पिया परदेस बसत है, लिख लिख भेजैं पाती
मेरा पिया मेरे हीय बसत है, न कहुँ आती जाती
चंदा जायगा सूरज जायगा, जायगा धरणि अकासी
पवण पानी दोनु ही जाँयगे, अटल रहै अविनासी
सुरत निरत का दिवला सँजो ले, मनसा की करले बाती
प्रेमहटी का तेल मँगाले, जग रह्या दिन ते राती
सतगुरु मिलिया सांसा भाग्या, सैन बताई साँची
ना घर तेरा न घर मेरा गावै मीरा दासी

यह स्पष्ट है कि प्रेम के अतिरेक में निर्गुण "साहिब" और सगुण "गिरिधर" में कोई भेद नहीं रह जाता। जिस गँभीर रहस्य-वेदना से कबीर और दादू ने निर्गुण की विरह की पीर के गीत गाये, उसी गँभीर रहस्यवेदना से मीरा सगुण कृष्ण के गीत गाती है। परन्तु फिर यह सगुण कृष्ण अवतारी कृष्ण नहीं रह जाते। यह मीरा की ब्रह्म-भावना के प्रतीक मात्र बन जाते हैं। सारी प्रकृति इसी ब्रह्म (हरि) के संयोग-वियोग में रमी रहती है। बादल आते हैं—

मतवारो बाहर आए रे, हरि को सनेसो कबहुँ न लाए रे ॥टेक॥
दादुर मोर पपइया बोलै, कोयल सबद सुनाए रे
कारी अँधियारी बिजरी चमकै, बिरहणि अति डरपाए रे
गाजै बाजै पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लाए रे
कारी नाग बिरह अति जारी, मीरा मन हरि भाए रे

विरहिणी 'हरि' का संदेश सुनने के लिये आतुर हो जाती है। 'होली' उसे अच्छी नहीं लगती—

होली पिया बिन मोहिं न भावै, घर आँगण न सुहावे ॥टेक॥
दीपक जोय कहा करूँ हेली, पिय परदेस रहावे
सूनी सेज जहर ज्यों लागे, सुसक सुसक जिय जावे
नींद नहिं आवे।
कब की ठाढ़ो मैं मग जोऊँ, निस दिन बिरह सतावे

कहा कहूँ कछु कहत न भावे, हिवड़ो अति अकुलावे
पिया कब दरस दिखावे।
ऐसा है कोई परम सनेही, तुरत संदेसो लावे
वा बिरियाँ कब होवी मोहूँ, हँस कर निकट बुलावे
मीरा मिल होली गावे।

सच तो यह है कि मीरा की तन्ययता ने उसी तरह पौराणिक कृष्ण को अपना 'पति' बना लिया है जिस प्रकार कबीर और दादू की तन्ययता ने निगुण, निर्लेप ब्रह्म को। दोनों की भावना में कोई अंतर नहीं है। यदि हम कबीर और दादू की ब्रह्मचेतना को रहस्यवाद कहेंगे, तो हमें मीरां की गिरिधर भक्ति को भी रहस्यवाद के भीतर रखना होगा। चाहे उनका आलंबन पौराणिक कृष्ण ही हो, उनकी भक्ति भावना निर्गुण श्रेणी की ही है। केवल प्रतीक-भेद से भावना के कोई अंतर नहीं पड़ता।

ऊपर हमने भक्तिसाहित्य की रहस्यवादिता पर विचार किया है। सूरदास, नंदराम, तुलसी औह मीरा के काव्य को हमने उदाहरण के रूप में लेकर यह समझाया है कि भावना के उच्चतम स्तर पर पहुँचकर सगुण भक्ति काव्य और निर्गुण भक्ति काव्य में कोई अंतर नहीं रह जाता। मध्ययुग के भक्तों ने जिन राम-कृष्ण की गद्गद भाव से तन्मयता-प्रधान भक्ति की है, वह उनकी भावना में ही निवास करते हैं। भावना से बाहर थे पौराणिक पुरुष हैं, परन्तु तब भक्तों को उनसे विशेष मतलब नहीं। भक्तों के लिये तो उनका भावना-वाला रूप ही सब कुछ है। यह भावना-वाला रूप संतों के निर्गुण ब्रह्म के प्रेम-परक रूप से कुछ भी भिन्न नहीं है। इसी से हम रहस्यवाद के क्षेत्र में निर्गुण और सगुण मतवाद जैसा कोई भेद नहीं कर सकते। सिद्धान्तों और विचारों के संबंध में चाहे जो भेद हो, जीव-ब्रह्म के अभेदत्व, दति-भावना (प्रेम-मयी भक्ति) द्वारा हम अभेदत्व की प्राप्ति और इस अभेदावस्था की अलौकिकता के संबंध में दोनों मतों में कोई भेदनहीं है।

८

सूफ़ी साहित्य में रहस्यवाद

सूफ़ी मत इस्लाम का रहस्यवादी अंग है। इस्लाम मूल रूप से सूफ़ी मत है जिसमें अल्लाह (ईश्वर) के जलाल (ऐश्वर्य) को ही प्रधानता मिली है, उसके प्रेम (रहमत) को नहीं। परन्तु मादन-भाव के लिये प्रेम की भावना ही महत्वपूर्ण है। अतः इस्लामी सूफ़ियों को अल्लाह के प्रेम वाले रूप के विकास के लिये अन्य स्रोतों से सहायता लेनी पड़ी। सूफ़ी साधना का आलंबन उसी प्रकार अल्लाह है जिस प्रकार बौद्ध साधना का आलंबन निर्वाण है, या हिंदू साधना का ब्रह्म। परन्तु सूफ़ियोंके अध्यात्म में अल्लाह की सत्ता सर्वोपरि होने पर भी उसके जलाल की अपेक्षा उसके 'रहीम' (करुणामय) रूप पर ही अधिक बल दियागया है। इस्लाम में अल्लाह की भावना अत्यंत स्थूल है। वह सातवें आसमान पर रहने वाला मनुष्यों का कठोर शासक है। सूफ़ियों के अनुसार अल्लाह हृदय में है, वह अंतर्यामिन है और हृदय को आइने की तरह स्वच्छ रखकर उसका प्रतिबिंब देखा जा सकता है। अतः सूफ़ी मत में इस्लाम का एक देशीय अल्लाह सर्वान्तर्यामिन, निर्गुण, निराकार ब्रह्म बन गया है। सूफ़ी विचारक जिली ने अल्लाह के चारगुण बताये हैं १—ज़ात (एकता, नित्यता, सत्यता, सार्वभौमिकता इत्यादि) २—जमाल (उदारता, माधुर्य, क्षमा इत्यादि) ३—जलाल (शक्ति, शासकत्व इत्यादि) ४—कमाल (विरोधी गुणों का समाहार इत्यादि अलौकिक शक्तियों का स्वामीत्व)। सूफ़ियों ने अल्लाह के ज़ात और कमाल के गुणों को विशेष महत्व दिया। इस प्रकार जहाँ क़ुरान के अल्लाह के सामने हमारा माथा झुक जाता है,वहाँ

सूफियों के अल्लाह के सामने हृदय भाव-विभोर हो जाता है। इस प्रकार अल्लाह के प्रेम-प्रधान व्यक्तित्व की स्थापना के बाद ही सूफ़ी अपनी साधना को आगे बढ़ा सके हैं। यह स्पष्ट है कि सूफ़ियों के अल्लाह की कल्पना वेदांतियों के ब्रह्मवाद से मिलती-जुलती है और इसीसे उसमें 'रहस्यवाद' और 'इश्क' (मादन-भाव) की प्रतिष्ठा हो सकी है। क़ुरान में ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध में कोई बात ही नहीं उठी है। अधिक से अधिक अल्लाह और इस्लाम के अनुयायियों का सम्बन्ध सेवक-सेव्य जैसा है। परन्तु जब दर्शन चल पड़ा, तर्क ने ज़ोर पकड़ा तो लोग अल्लाह और इन्सान के सम्बन्ध में भी खोजने लगे। अल्लाह फ़रिश्तों, मुहम्मद और इन्सान (जीव) एवं सृष्टि में परस्पर क्या सम्बन्ध है, ये जिज्ञासा के विषय हुए। सूफ़ियों ने सोचा, आख़िर जीव की क्या स्थिति है? क्या वह अल्लाह से भिन्न है? क्या वह अल्लाह की तरह ही एक, नित्य और सत्य है? इस्लाम ने इन विषयों पर कुछ नहीं कहा था। सूफ़ियों ने वेदांतियों की तरह कहा—अन-अल-हक़। 'मैं हक़ हूँ'। जीव ही ब्रह्म है। इस तरह जीव हक़ हो गया। वह सत्य' नित्य एक मान लिया गया। सूफ़ियों की दृष्टि में अल्लाह और बन्दे में कोई अन्तर नहीं है। आदमी अल्लाह का ही प्रतिरूप है। कहा है—जब सृष्टि बन चुकी तो अल्लाह ने अपने नूर से अपने अनुरूप ही आदम (प्रथम मनुष्य) की रचना की। वस्तुतः इन्सान वह आईना है जिसमें अल्लाह अपना स्वरूप देखता है। इस प्रकार सूफ़ी अद्वैतवादी बन गये परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका अद्वैतवाद किस श्रेणी का है। केवल, विशिष्ट, शुद्ध अथवा द्वैताद्वैत में वह कौन-सा अद्वैतवाद है, यह कहना कठिन है। परन्तु साधना पक्ष में वह वेदांत के केवलाद्वैत से बहुत निकट है, यद्यपि वह ज्ञानाश्रित नहीं, भावाश्रित है।

सूफ़ियों की दृष्टि में सृष्टि का उपादान कारण 'रूह' है। 'रूह' का अर्थ है वह अलौकिक शक्ति जो हमें बराबर अल्लाह की झलक

दिखलाती है। यही रूह इंसान (मनुष्य) में भी है। जिस प्रकार इन्सान की रूह समा में अल्लाह के लिये तड़पती है, उसी तरह यह सृष्टि भी अल्लाह के लिए तड़पती है। सूफ़ियों के विचार में सृष्टि के सारे उपकरण अल्लाह के अंग-प्रत्यंग की झलक हैं। जो कुछ गो-गोचर है, वह सब उसी का नखशिख है। वही एक अल्लाह सत्य है। शेष सब उसकी छाया या प्रतिबिंब है। इस प्रतिबिंब में हम अल्लाह की झाँकी देख सकते हैं। यही उसकी उपादेयता है। सूफ़ी सृष्टि में प्रतिबिंबित अल्लाह के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसमें तन्मय हो जाता है। और इस प्रकार 'हक़' तक पहुँचना चाहता है। जीव स्वयं अल्लाह का प्रतिबिंब है। अतः प्रकृति से उसका गहरा सम्बन्ध है। संक्षेप में सूफ़ियों के मतानुसार सृष्टि (प्रकृति) वह दर्पण है जिसमें अल्लाह के आत्मदर्शन की कामना पूरी होती है। इस दर्पण में अल्लाह का जो प्रतिबिंब पड़ता है, वही इन्सान है। परन्तु यह इन्सान सृष्टि में अपना स्वरूप देखना चाहता है। अतः वह भ्रम से अहम् में ग्रस्त हो जाता है। जब वह सृष्टि (प्रकृति) के सौन्दर्य को अल्लाह के सौन्दर्य का दर्पण समझने लगता है, तब अपने स्वरूप से उसका मोह टूट जाता है और वह अल्लाह में मिल जाता है। इस प्रकार प्रकृति सूफ़ियों के लिए एक महान साधन है। प्रकृति के सौन्दर्य से एकात्म स्थापित करके ही साधक ईश्वरानुभूति (अन-अल हक़) को प्राप्त होता है।

भारतीय वेदांत में ब्रह्म और जीव की अभिन्नता के बीच परदा डालने वाली शक्ति को 'माया' कहा गया है। ब्रह्म की यवनिका, ब्रह्म की शक्ति आदि कहकर इसकी व्याख्या की गई है सूफ़ियों में शैतान अल्लाह और इन्सान के बीच में सब से बड़ी बाधा है। वास्तव में सूफ़ियों ने इस्लाम के शैतान का परिष्कार किया है। शैतान प्रच्छन्न रूप से अल्लाह का भक्त है। वह अल्लाह के बन्दों (भक्तों) की परीक्षा लेता है। अल्लाह के प्रेम के कारण ही वह उसके बन्दों को गुमराह करने की बड़ी भारी लांछा स्वीकार करता है। वास्तव में

पौराणिकों में जो काम नारद करते हैं, वही सूफ़ियों में शैतान। इसी से जायसी ने शैतान के स्थान पर नारद को रखा। तब प्रश्न यह है कि इन्सान को पथ-भ्रष्ट कौन करता है। सूफ़ियों के अनुसार इसका कारण है नियति। कर्म ही मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर देते है। कर्मों का फल अनिवार्य है। कर्मों के फल के सम्बन्ध में अल्लाह भी स्वतंत्र नहीं है। परन्तु अल्लाह यह अवश्य करता है कि वह हमें बराबर सावधान करता है।

परमार्थतः अल्लाह और इन्सान एक ही तत्व के बने हैं। जिस प्रकार अल्लाह में जमाल और जलाल के दो तत्व है, उसी प्रकार इन्सान में भी यही दो तत्व हैं। यः पिंडे सा ब्रह्मांडे। पिंड में जा है, वही ब्रह्मांड में हैं। फिर इन्सान में 'रूह' है। वह अल्लाह का प्रतिबिंब ये। इन्सान तत्वतः हक़ मैं। उसकी रचना ही इसलिए हुई है कि उसके द्वारा अल्लाह आत्मदर्शन चाहता है। परमार्थ-दर्शन के बाद अल्लाह और इन्सान की भिन्नता नहीं रहती। कुछ सूफ़ी कहते हैं कि परमसत्ता में जीव का सर्वथा लोप हो जाता है, कुछ अंशतः मानते है। अनेक प्रकार की उपमाओं द्वारा यही बात सिद्ध की गई है।

सूफ़ियों की साधना यही है कि वह 'अन × अल × हक़' (मैं ब्रह्म हूँ, तत्वमसि) का अनुभव कर सके। इस प्रकार का अनुभव सहज ही प्राप्त नहीं होता। इसके लिए साधना की आवश्यकता पड़ती है। एक शब्द में इस साधना को 'विरह की साधना' कह सकते हैं। सूफ़ी दिन रात उस महामिलन की आकुलता का अनुभव करना चाहते हैं जो अंशतः जीव-ब्रह्म को एक करेगी। इस के लिए हृदय मन का परिमार्जन आवश्यक है। मनुष्य के भीतर एक अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति (क़ल्ब) है जहाँ अल्लाह निवास करता है। जप, तप, नाम स्मरण इत्यादि साधनाओं द्वारा 'क़ल्ब' का परिमार्जन आवश्यक है। यही क़ल्ब मन बुद्धि, चित्त और अहंकार का निवासस्थल है। अतः यह वही है जिसे वेदांती अंतःकरण कहते हैं। जब ब्रह्म-मिलन की

आकुलता अत्यंत बढ़ जाती है तो इसी 'क़ल्ब' में अत्यंत अभाव, अत्यधिक उत्कंठा और व्याकुलता का जन्म होता है। यही जीव की अंतिम परिणिति है। इसी को सात्विक भाव भी कह सकते हैं। यह 'सिर्र' की मनोस्थिति है जो बहुत कम साधकों को प्राप्त होती है।

परन्तु सिर्र तो दूर, नफ़स की स्वच्छता भी सहज साध्य नहीं है। नफ़स इसका कारण है। नफ़स का अर्थ है ऐन्द्रियता, चित्तवृत्ति या वासना। पाँच इंद्रियाँ इसकी प्रतीक हैं। इससे छुटकारा मिले, तब आत्म-वृद्धि हो, परन्तु इससे छुटकारा संभव नहीं है। कुछ सूफ़ी इसे इबलीस भी कहते हैं। इंसान का सब से भयङ्कर शत्रु यही है। साधारणतः इस पर विजय पाना असंभव है, परन्तु इंसान में अल्लाह की रूह है। इस कारण सफलता संभव है। रूह अल्लाह के लिए तड़पती है। यदि यह तड़पन सच है तो नफ़स की हार होगी। इस नफ़स के कारण ही जीव अध्यात्म मार्ग को त्याग कर संसार-साधना में लगता है। इसी से सूफ़ी-साहित्य में नफ़्स को बश में करने या मार डालने की बात बार-बार आती है।

इन्सान में नफ़्स, रूह और अक़्ल ये तीन चीज़ें होती हैं। अक़्ल का अर्थ है इल्म या बुद्धि-विलास। सूफ़ियों की दृष्टि में यह भी साधक के मार्ग में इतनी ही बाधक है जितनी नफ़्स (चित्तवृत्ति)। सूफ़ी बुद्धि-विलास को बेकार समझते हैं, परन्तु प्रज्ञा (मुआरिफ़) को सहायक मानते हैं। इल्म, नफ़्स और ख़ुदी से ऊपर उठकर क़ल्ब (प्रज्ञा या सहज ज्ञान) की बात सुनना ही साधक का ध्येय है।

सूफ़ियों की साधना सामाजिक नहीं है, वैयक्तिक है। यह संघ की साधना नहीं, हृदय की साधना है। अतः संघ या समुदाय के नियमों से उसका पालन नहीं हो सकता। किसी भी साधना में हृदय (भावनाओं) का प्रसार वांछनीय है। इसलाम-जैसा परिपाटी-बद्ध सामाजिक धर्म कोमल भावनाओं का आश्रय नहीं बन सकता था। इससे सूफ़ियों को इस्लाम के अन्दर रहते हुए भी इस्लाम की नहीं परिभाषा गढ़नी

पड़ी। इस्लाम में नमाज़ (सलात) का आयोजन है। सूफ़ियों ने उसे नया रूप दिया। इमाम की जगह गुरु ने ले ली। सलात में अल्लाह का नाम लेना भक्तों के नामास्मरण की भाँति तन्मयता-प्रधान हो गया। सूफ़ियों के लिये सलात विह्वल आत्मा की तड़पन है। सलात के अनेक आसनों का स्थान ज़िक्र की मुद्राओं ने ले लिया। इस प्रकार इस्लाम में प्रकारान्तर संयोग की मुद्राओं का समावेश हो गया। ज़कात (दान) की भावना को दया, दाक्षिण्य या उपकार के रूप में व्यापकता दी गई। सर्वत्याग या सन्यास के रूप में इस भावना का प्रचार होने लगा। दीनता के गीत गाये जाने लगे। 'तवक्कुल' (संतोष) की महत्ता बढ़ी। अंत में ज़कात का यह अर्थ हो गया कि सूफ़ी सब कुछ त्याग दे और स्वयं भी परमात्मा के अर्पण हो जाये। इस प्रकार कर्मप्रधान इस्लाम को सूफ़ियों ने निवृत्ति-प्रधान सन्यास मार्ग बना दिया। सौम (रोज़ा) का अर्थ हो गया तप! आहारशुद्धि, उपवास और कृच्छ्र साधनाओं को अत्यंत विस्तार मिला। कुछ सूफ़ी तो वर्ष-भर इन तप-साधनाओं में लगे रहते थे और इसलिये महीने भर के रोज़ों (रमज़ान) को वे ढोंग कहते। वे ज़िन्द या आज़ाद कहलाये जाने लगे। 'हज्ज' की भी नई व्याख्या की गई। क़ल्ब में ही क़िबला (संग असवद) की उपस्थिति मानी गई। अल्लाह तो सब के हृदय के भीतर ही निवास करता है।

सूफ़ी साधना की सबसे पहली सीढ़ी शरीअत है। शरीअत के मुक़ामात हैं तौबा, ज़हद, सब्र, शुक्र, रिज़ाअ, खौफ़, तवक्कुल, रज़ा, फ़िक्र और मोहब्बत। सब से पहले तो मोमिन (अल्लाह के प्यारे) को उन बातों का त्याग तथा पश्चाताप करना पड़ता है जो अल्लाह के रास्ते में बाधक हैं (तौबा)। फिर उन्हें इन बाधाओं के लिये लड़ना पड़ता है (ज़हद)। प्रयत्न में सफल होने पर उसे सब्र (संतोष) का सहारा लेना पड़ता है, नहीं तो उसमें अहम् (गर्व) का उदय होगा

और उसकी साधना नष्ट हो जायगी। शैतान भुलावा देने के लिए बराबर तैयार है। इसलिये उसे अल्लाह का शुक्र मानना होगा। ईश्वर के आदेश पर चलना (रिज़ाअ) और उससे भयभीत रहना (ख़ौफ़) एवं जीविका के लिए इधर-उधर न भटकना (तवक्कुल) व तटस्थ हो ईश्वर का ध्यान करना (रज़ा) अन्य मंज़िलें हैं। अंत में अल्लाह की प्रीति (मोहब्बत) का जन्म होता है। अंतिम मंज़िल (मोहब्बत) तक पहुँच कर मोमिन सूफ़ी बन जाता है और शरीअत से आगे बढ़-कर तरीक़त में प्रवेश करता है। इसके बाद मोमिन साधक (सालिक) बन जाता है और उसे किसी पुराने भेदिये (मुरशिद) की आवश्य-कता पड़ती है। मुरशिद ही उसे तरीक़त के रहस्यों का परिचय कराता है। सालिक में लग्न का होना आवश्यक है। जब मुरशिद (गुरु) जान जाता है कि मुरीद (शिष्य) में लग्न पैदा हो गई, तो वह उसे चित्त-वृत्तियों के निरोध (ज़हद) की शिक्षा देता है। इस क्षेत्र में सफलता पाने पर सालिक में म्वारिफ़ (प्रज्ञा) का जन्म होता है और वह 'आरिफ़' बन जाता है। म्वारिफ़ के उदय होने से वह परमात्मा के स्वरूप की चिंता करने लगता है। विरह उसकी साधना बन जाता है। धीरे-धीरे वह तरीक़त को पार कर हक़ीक़त के क्षेत्र में पहुँच जाता है। हक़ीकत की साधना का अन्त वस्ल (महा-मिलन) में होता है। धीरे-धीरे साधक फ़ना की दशा तक पहुँच जाता है। उसे स्मरण ही नहीं रहता कि वह प्यारे से भिन्न है और अन्त में द्वन्द्वों से ऊपर उठकर वह 'अन-अल-हक़' (मैं हक़ हूँ) चिल्लाने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफ़ी साधना की प्रारंभिक मंज़िलों का उद्देश्य मुआरिफ़ (प्रज्ञा) को जन्म देना है। अष्टछाप के कवियों ने जिसे 'पुष्टि' या 'अनुकंपा' कहा है, वही मुआरिफ है। अल्लाह की अनुकंपा के द्वारा ही प्रज्ञा (मुआरिफ़) जाग्रत होती है। प्रज्ञा के जाग्रत होने से अल्लाह के जमाल के दर्शन होते हैं। कभी-कभी

सूफ़ी सीधे हक़ीक़त की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। अनायास ही प्रियतम का साक्षात्कार उन्हें हो जाता है। परन्तु अधिकतः यह अवस्था कठोर साधना के द्वारा ही प्राप्त होती है। सूफ़ी साधना के प्रधान अन्ग ज़िक्र, फ़िक्र और समाअ हैं। जिक्र को योगासन और जप कहा जा सकता है। ज़िक्र (नामस्मरण) के बाद फ़िक्र (चिंतन और ध्यान) का उदय होता है और धीरे-धीरे मुराक़बा (समाधि) में परिवर्तित हो जाता है। 'समाअ' में नृत्य और सङ्गीत का समावेश है। सूफ़ियों का कहना है कि नृत्य और गान द्वारा तुरीयावस्था की प्राप्ति सरल है। इन साधनाओं के फलस्वरूप सूफी धीरे-धीरे ऊपर उठने लगता है! वह नासूत, लाहूत, मलकूत और जबरूत के मुक़ामात को पारकर अन्त में ताहूत को प्राप्त होता है। इन्हें हम क्रमशः जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था कह सकते हैं।

भारतीय रहस्यवादी धाराओं में जिस प्रकार अनेक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार सूफ़ी मत में भी प्रतीकों का प्राचुर्य रतिभाव (मादन भाव) की प्रधान होने के कारण मदिरा है। शराब के रूपक का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। अल्लाह साक़ी (शराब पिलाने वाला माशूक़) है और अल्लाह के अलौकिक सौन्दर्य के नाते सूफ़ियों का साक़ी भी अलौकिक बन गया है। संसार में जहाँ-कहीं जो-कुछ सौन्दर्य (हुस्न) है वह अल्लाह का जमाल ही है। यह साक़ी जो सुरापान कराता है उसका अर्थ है दैवी उल्लास जो शाश्वत आनन्द प्रदान करता है। साक़ी के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य पर रीझना सूफियों का प्रतिक्षण का काम हो गया। 'पद्मावती' में पद्मावती का सौन्दर्य अपरोक्ष में अल्लाह का ही सौन्दर्य है। संसार में जहाँ भी वेदना या कसक है, वह प्रतीक रूप से विरही आत्मा की अन्यतम पुकार है। बुलबुल, मछली, बाँसुरी का दर्द भरी आवाज़—संक्षेप में, विश्व के कण-कण में उस प्रियतम के विरह की व्यथा भरी है। जो कुछ गो-गोचर है, वह सब उस

प्रियतम की खोज में व्याकुल हो रहा है। इस खोज का कहीं अन्त नहीं है।

सूफ़ी भावना के प्रकाशन के अनेक ढंग हैं जिनमें यह महत्वपूर्ण है, अन्योक्तियाँ, समासोक्ति और ग़ज़ल। 'मसनवियों' (प्रेम-कथा-काव्यों) में समासोक्ति का विशद प्रयोग हुआ है। 'यूसुफ़ और जुलैखा' लैला और मजनूं" और शीरींफ़रहाद" जैसी लोक-प्रचलित कथाओं को लेकर सूफ़ी कवि और साधक अपने प्रेम की गहराई को व्यक्त करना चाहता है। जिस गहरी अनुभूति को उसने अपनी प्रेम-कथाओं में भर दिया है, वह उन्हें लौकिक भूमि से उठाकर आध्यात्मिक स्तर तक ले जाती है। भारतीय सूफ़ियों ने भी उर्दू-फ़ारसी में अनेक मसनवियाँ लिखीं। अवध के सूफ़ी कवियों का अवधी कथाकाव्य प्रकारान्तर से सूफ़ी काव्य ही ठहरता है।

सूफ़ी साहित्य की सब से आकर्षक बात प्रतीकों का व्यापक प्रयोग है। कदाचित् प्रतीकों का इतना सुन्दर और इतना व्यापक प्रयोग किसी भी अन्य रहस्यवादी धारा में नहीं हुआ है। शराब, साक़ी, प्याला, बुलबुल, चमन, क़फ़स (पिंजरा)—न जाने कितने प्रतीक आत्मा-परमात्मा के मिलन-वियोग के सुख-दुख को व्यंजित करने के लिए गढ़े गये। ये प्रतीक इसलिये अधिक प्रिय हुए कि ये लौकिक और पारलौकिक दोनों पक्षों पर लागू होते थे और इनकी आड़ में इस्लाम-विरोधी बात भी सरलता से कह दी जाती थी। सूफ़ियों ने कबीर की उलटवाँसियों की तरह विरोधात्मक प्रतीकों का भी व्यापक प्रयोग किया। समकालीन सिद्धों, नाथों (जोगियों) और संतों एवं पश्चिमी मसीही संघों में इस प्रकार के विरोधात्मक प्रतीक का प्रयोग अत्यंत प्रिय हो रहा था और कदाचित् भोले-भाले, प्रेम-रस में डूबे इस्लामी सूफ़ी भी इनके आकर्षक से नहीं बच सके। कुछ सूफ़ी वस्तुतः भावना में बहुत ऊपर उठ गये थे। वेदांतियों की भाँति अनल-हक़ (अहम् ब्रह्म) का अनुभव होने पर इस अनुभव के प्रकाशन के लिए

उपयुक्त भाषा का मिलना असंभव था। अतः विरोधात्मक प्रतीकों का सहारा लिया गया—परंतु हिन्दी में इस प्रकार का साहित्य अधिक नहीं है।

हिन्दी सूफ़ी काव्य की परम्परा मुसलमानों के हिन्दी प्रदेश में आने के कुछ ही बाद आरम्भ हुई होगी। ईसा की १३ वीं शताब्दी में जो सूफ़ी काव्य बना, वह लगभग अप्राप्य है। सब से पहले महत्वपूर्ण सूफ़ी बन्दानवाज़ गेसूदराज़ (१३१८-१४२१) हैं। उनका ग्रन्थ मैराजुल आशक़ीन' हिंदवी भाषा का आदि रूप उपस्थित करता है। परंतु वास्तव में भारत में सब से पहले बृहद रूप में सूफ़ी साहित्य कबीर (मृ० १३६८) में ही मिलता है और फिर दादू, रज्जब आदि निर्गुणियों में इस साहित्य की परंपरा चलती रहती है। हिंदवी में पहली मसनवी की रचना १४०० ई० से पहले नहीं हुई। अवधी सूफ़ी काव्य में क्रमशः सपनावति, युगुधावति, मृगावति और मधुमालती के नाम आते हैं। मृगावती के लेखक कुतवन का समय १४९३ ई० है। मंझन, कुतवन, जायसी और नूरमुहम्मद की रचनाएँ हिन्दी सूफ़ी काव्य का शृङ्गार है। इनके ग्रन्थों से हमें उनकी कोई साधना-पद्धति नहीं मिलती। इनमें लोक-कथाओं में विरह और मिलन के इतने सुन्दर, इतने अनुभूति-पूर्ण काव्यात्मक चित्र हैं कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वास्तव में ये काव्य नहीं है, काव्य के रूप में कवि की अत्यंत भावुकतामयी प्रेम-साधना हैं। नूरमुहम्मद की प्रेम की ऊँची परिभाषा देखिये—

अलष प्रेम-कारन जग कीन्हा
धन जो सीस प्रेम कहँ दीन्हा
जाना जेहिक प्रेम महँ हीया
मरै न कबहूँ सो मरजीया
प्रेम खेत है यह दुनियाई
प्रेमी पुरुष करत बोवाई

जीवन जाग प्रेम को कहई
सोवन मीचु वो प्रेमी अहई
आग तपन जल चाल समूझो
पुनि टिकाउ माँटी कहँ बूझो
हौ प्रेमी है प्रेम को, चंचलताइ काय
जा मन जायां प्रेमरस, या दोउ जग को राय

इस प्रेम की सब से ऊँची अभिव्यक्ति विरह में हुई है। विरह ही साधक का प्राण है। वही तो उसे आराध्य के समीप ले जाता है। मंझन कहते हैं—

विरह अवधि अवगाह अपारा
कोटि माहि एक परै न पारा
विरह कि जगत अविरथा जाई
विरह रूप यह सृष्टि सवाई
नयन विरह अंजन जिन सारा
विरह रूप दर्पन संसारा
कोटि माहि बिरला जग कोई
जाहि सरीर विरह दुख होई
रतन कि सागर सागरहिं ? जग मोती गज कोय
चंदन कि वन वन उपजइ ? विरह कि तनतन होय

संसार की प्रत्येक सुन्दर वस्तु सूफ़ी को अपने आराध्य के सौन्दर्य की याद दिलाती है। सांसारिक विभूतियों का आधार परमात्म सत्ता ही है। इस संसार की प्रत्येक सुन्दर वस्तु के पीछे, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष या प्रकृति या कोई कार्य-व्यापार विशेष, ईश्वर है या उसकी प्रेरणा है। इसी कारण सूफ़ी संसार की असारता की घोषणा करते हुए भी उसकी ओर घृणा की दृष्टि से नहीं देखते जिस प्रकार संत देखते हैं! उनके लिए नारी सौन्दर्य भी सत्य है, प्रकृति भी सत्य है। दोनों अध्यात्म की ओर इंगित करते हैं। अतः किसी विशेष अवस्था में

उपादेय अथवा संग्रहणीय भी हो सकते हैं। मंझन स्पष्ट कहते हैं—

देखत ही पहचानेउँ तोही
एही रूप जेहि छंदर्यो मोही
एही रूप बुत अहै छिपाना
एही रूप रब सृष्टि समाना
एही रूप सकती औ' सीऊ
एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ
एही रूप प्रगटे बहु भेषा
एही रूप जग रंग नरेसा

संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, जहाँ कहीं विरह है, जहाँ कहीं सौन्दर्य है, वहाँ सूफ़ी को अलक्ष्य का सौन्दर्य, अलक्ष्य के प्रेम और विरह के दर्शन होते हैं, इसी से वह प्राकृतिक रूपकों में अति-प्राकृतिक भावों का आरोप कर है। पद्मावती रतनसेन से कहती है—

जिमु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातकि मसउ कहत पिउ पोऊ
जरिउँ बिरह जस दीपक बाती। पंथ जोहत भइ सीप नेवाती
डाढ़ि डाढ़ि जिमि कोइल भई। भइउँ चकोरि, नींद निसि गई
तोरें पेम पेम मोहि भएऊ। राता हेम अगिनि जिमि तएऊ
हीरा दिये जौ सूर उदोती। नाहिंत कित पाहन कहँ जोती
रवि परगासे कँवल बिगासा। नाहिं त कित मधुकर, कित बासा

इस सर्वग्राही विरह-भाव की व्यंजना ने न जाने कौन-कौन से रूपक, कौन-कौन चित्र कवि को रखना पड़ते है। पद्मावती का कथन है—

छोड़ि गएउ सरवर महँ मोही। सरवर सूखि गएउ बिनु तोहीं
केलि जो करत हंस उड़ि गयऊ। दिनिअर निपट सो बैरी भयऊ
गईं तजि लहरैं पुरइनि-पाता। मुइहउँ धूप, सिर रहेउ, न छाता
भइउँ मीन, तन तलफै लागा। बिरह आइ बैठा होइ कागा
काग चोंच तस सालै, नाहा। जस बँदि तोरि साल हिय माँहा

× × ×

कहीं, काग अब तहँ लेइ जाही। जहँवा पिउ देखै मोहिं खाहीं

यह भावना की अन्यतम अवस्था है जब जीव ब्रह्म का ज़रा भी वियोग नहीं सह सकता। सच तो यह है प्रेम-विरह के लौकिक रूपकों के द्वारा सूफ़ी साधक अलौकिक प्रेम-विरह को ही पुष्ट करते दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूफ़ियों की भक्ति-भावना मादन-भाव की है जो भारतीय साधना से एकदम भिन्न नहीं है। भारत के तंत्र-साहित्य में जिस आनन्दवाद के गीत गाये गये हैं, वह इस मादन-भाव से भिन्न नहीं है। माधुर्य भाव की भक्ति के पीछे मादन-भाव की साधना ही है। इसका अर्थ यह है कि उपास्य में उपासक की बुद्धि रति या पति-पत्नी (अथवा प्रेमी-प्रेमिका) भाव की हो। परंतु इस प्रकार की रति-भावना में गर्हित कुछ भी नहीं है। अध्यात्म प्रेम की आकुलता, तीव्रता और एकांतता दिखाने के लिए ही पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका का रूपक ग्रहण किया गया है। "सूफ़ियों की जिन दशाओं का वर्णन किया गया है वे विप्रलंभ की दशाएँ हैं। सूफियों की धारणा है कि जीवात्मा-परमात्मा के वियोग में व्याकुल है और उसी की वेदना में व्यग्र है। जीव को अपने प्रियतम का पता उसी की कृपा से चला। कभी वह उसके साथ था, उससे प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका था, अतः उसको पहचानने में देर न हुई। उसका परिचय तो मिल गया, किन्तु वह न मिला। उसी की खोज में सूफ़ी निकल पड़ते हैं। खोजते-खोजते जब वे थक कर सो जाते हैं तब उनका प्रियतम धीरे से उनके पास आता और संजीवन-रस छिड़क कर उन्हें सचेत कर देता है। उनको इस उद्बोधन से शांति नहीं मिलती, उनका विरह और भी बढ़ जाता है; आग को आहुति मिल जाती है। फिर तो जहाँ कहीं देखते हैं प्रियतम ही का रंग दिखाई देता है। परंतु कभी वह रंगी हाथ नहीं आता। अन्त में उनसे कोई कह पड़ता है कि जिसके पीछे तुम मर रहे थे, वह कहीं अन्यत्र नहीं, तुम्हारे ही हृदय में है, जहाँ कहीं तुम देखते हो, उसी की झलक दिखाई देती है, पर वह सदा परोक्ष में ही रहता है।

कारण, जब तुम नहीं होते तब वह हो जाता है और जब वह हो जाता है तब तुम नहीं रहते। फिर वियोग कैसे मिटे ? स्वप्न या समाधि में उसके साक्षात्कार का मुख्य कारण यही है कि इस दशा में तुम अथवा तुम्हारा अहंभाव नहीं रह जाता। बस वहीं वह रह जाता है। निदान हम से वह भिन्न नहीं है। हाँ, उससे हम भिन्न अवश्य हो गये हैं। भिन्नता का आवरण उसके प्रसाद से हट जाता है, परंतु तो भी प्रसाद-वश उसे हम फिर अपना लेते हैं। अस्तु, यदि हम प्रसन्न हों सब कुछ उसी पर छोड़ दें तो वह हमारे आवरण को हटा दे और हम चट उसके अङ्क में पहुँच जायँ। राग तो हमारा अनादि है ही, बस प्रणय की देर है। प्रणय तो हमारा पुराना है ही, बस अहंकार वा मान का ठेना है। बस ख़ुदी मिटी कि ख़ुदा बने।" (तवस्सुफ अथवा सूफ़ीमत—चन्द्रबली पांडेय पृ० १२३-२४)

ख़ुदी अर्थात अहंभाव के नाश करने की साधना ही सूफ़ी साधना है। प्रेम-भाव के प्रसार और विरह-वेदना को जाग्रत करने से ही यह (अहम्) का भाव नष्ट हो सकता है। प्रेम-विरह की भावना के प्रसार का मुख्य साधन प्रकृति और सौन्दर्य से एकात्म स्थापना करना है। "सूफ़ी देखते हैं, कि प्रकृति उसके विरह में कहीं सूख रही है, कहीं रो रही है, कहीं चक्कर काट रही है, कहीं उन्मत्त है, कहीं मूर्छित है, कहीं हँस रही है, कहीं रूठ रही है, कहीं लहलहा रही है, कहीं लपट रही है; कहीं कुछ कर रही है, कहीं कुछ। संक्षेप में, प्रकृति इनके सामने उन फलोंको भोग रही है जिनकी आकांक्षा उनमें जाग रही है। उनकी लालसा और उनकी रति यह देख देख कर तड़प उठती है, लंबी साँस लेती है, और उसके विरह में जल उठती है। कभी-कभी उसकी झलक या उसे कुछ संतोष होता है और वह खिल पडती है। किन्तु फिर उसी के वियोग में चक्कर काटने लगती है (वही, पृ०१८८)।

भारतीय रहस्यवादी साधना और सूफ़ियों की रहस्यवादी साधना

में थोड़ा सा अन्तर है। भारतीय साधक रति-भाव की महत्ता समझते हुए भी विरति पर अधिक बल देते है। उनकी संसार-विषयक विरति उनकी ईश्वर-विषयक रति का ही सूचक है। सूफ़ी इस संसार को ईश्वर का प्रतिबिंब मानते हैं और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक सौन्दर्य (ब्रह्म) तक पहुचने की एक सीढ़ी। इस प्रकार वे संसार से पूर्णतयः विरति का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। केवल मात्र प्रेम और विरह उनकी साधना है। जब यह प्रेम और विरह सांसारिक सौन्दर्य को ओर उन्मुख होता है, तो वह परोक्ष की ओर इंगित भी करता है। वह उपादेय है, लांछा का विषय नहीं। अध्यात्म दृष्टि से यह एक बड़ा भेद है।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि सूफ़ियों की प्रेम-विरह मूलक रहस्य-साधना का भारतीय चिन्ता-क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वह वेदांत से प्रभावित है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' ही 'अनलहक़' हो गया है, परंतु भारतीय रहस्यवादी साधक में इस अद्वैयता के भीतर से द्वैतभाव को नष्ट करने की जो साधना है वह मुख्यतः ज्ञानमूलक है। प्रेम-विरह के प्रतीकों का प्रयोग उसमें अवश्य हुआ है परंतु उनमें उतनी गहरी अनुभूति नहीं जितनी सूफ़ियों की प्रेम-विरह की भावना में। भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में सूफ़ी रहस्यवादी धारा का इतना ही महत्व है कि निर्गुण-रहस्यवाद पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अन्यथा भक्तिसंप्रदायों और अन्य संस्थाओं पर उनका कोई प्रभाव नहीं है।

९

आधुनिक साहित्य में रहस्यवाद

आधुनिक साहित्य की रहस्यवाद की धारा प्राचीन साहित्य की रहस्यवाद की धारा से नितांत भिन्न है। १८०० ई० से पहले रहस्यवाद की अनुभूति से उस धार्मिक अनुभूति का अर्थ होता था जो ईसाई पादरियों की ईश्वर और ईश्वर प्रेम-सबंधी मानवीय भावनाओं की उक्तियों एवं बलेक (Willaim Blake) जैसे कवि की कविताओं में प्रकाशित हुई थी। प्रेम के आधार पर जीवात्मा-परमात्मा का एकांतिक अनुभव और अनुभवी संतों के चमत्कारिक वर्णन एवं रहस्यवादी काव्य इसी श्रेणी में आते हैं। जब अंग्रेज़ भारतवर्ष में आये और भारतीय काव्य-परंपरा से परिचित हुये तो यूरोपीय शब्दों मिस्टिक और मिस्टिसिज़्म के आधार पर उन्होंने भारतीय धार्मिक चितना और उससे प्रभावित काव्य को भी रहस्यवादी कहा। उन्होंने कई श्रेणिया भी कर दीं।

रहस्यवाद की धार्मिक अनुभूति एवं धार्मिक कविता का आधार निर्गुण ब्रह्म है। भारतीय साहित्य में सबसे पहले रहस्यवादो वर्णन ऋग्वेद के नासिदेय सूत्र और पुरुष सूक्त में मिलते हैं। नासिदेय सूत्र में 'नास्ति' (Non existence) का सुन्दर, चमत्कारी वर्णन है। 'पुरुष'-सूक्त में 'पुरुष' की बलि का रूपक बाँधकर ब्रह्म-द्वारा सृष्टि के विकास की बात कही गई है। परन्तु रहस्यवाद के आदि ग्रन्थ उपनिषद हैं। इनमें ब्रह्म की खोज, ब्रह्म के प्राप्ति की साधनों और ब्रह्म-प्राप्त योगी के आनन्द का उल्लेख रूपको, वर्णनों और कथाओं में इस प्रकार किया जाता है कि वह साधारण श्रेणी के काव्य से ऊपर उठ जाता है।

योरोपीय विद्वान पहले-पहले उपनिषदों के रहस्यवाद की ओर ही आकर्षित हुए। 'कठोपनिषद' रहस्यवादी उक्तियों से भरा पड़ा है। निर्गुण ब्रह्म की परिभाषा रहस्यवादी है। जैसे वह चलता है, नहीं भी चलता है और नहीं है इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयी सत्ता का वर्णन समस्त सीमाओं और हमारे समस्त अनुभवों को लाँघकर रहस्यवाद की श्रेणी में आ जाता है। उपनिषदों के बाद रहस्यवाद की धारा १८०० ई० तक चलती रही। यद्यपि सब में जीवात्मा के परमात्मा के प्रति उन्मुख होने की वही एक बात है, परंतु रूपकों, प्रतीकों और संबंधित धार्मिक धाराओं के भेद के कारण इस रहस्यवादी प्रवाह के कई भाग किये जा सकते हैं। जैसे योग-रहस्यवाद, वेदांतिक रहस्यवाद, निर्गुण रहस्यवाद, सूफ़ी रहस्यवाद। हिन्दी काव्य में योग-परक रहस्यवाद, महायानी सिद्धों और नाथ-पंथियों की कविता में मिलता है, वेदांतिक रहस्यवाद संत-काव्य और सगुण भक्ति धाराओं की पृष्ठभूमि है; निर्गुण रहस्यवाद ने मध्ययुग की संत शाखाओं को प्रभावित किया है। इसमें सूफ़ियों के प्रेमतत्त्व के मिश्रण से विशेष विलक्षणता आ गई है। सूफ़ी काव्य ईरानी चीज़ है, परंतु उसे हम वेदांत का प्रेम-प्रधान रूप कह सकते हैं। इसने मध्ययुग की भारतीय रहस्यवादी धाराओं को प्रभावित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग सारा धार्मिक काव्य 'रहस्यवाद' की श्रेणी में आ जाता है। निर्गुण काव्य तो शत प्रतिशत रहस्यवादी है। सगुण काव्य की भित्ति में अवतारी ब्रह्म का रहस्यवादी रूप ही है यद्यपि वहाँ आलंबन के अधिक स्पष्ट रहने के कारण रहस्यवाद का आरोप उतना रहस्य पूर्ण नहीं हो पाता जितना निर्गुण प्रेममय काव्य में। जो हो, १८०० ई० तक धार्मिक रहस्यवाद अनेक रूपों में हमारे काव्य को प्रभावित करता रहा है।

१९१३ ई० के आस-पास रविठाकुर की 'गीतांजलि' से प्रभावित होकर खड़ी बोली में फिर रहस्यवादी काव्य का स्फुरण हुआ।

'गीतांजलि' पर उपनिषद काव्य और मध्य युग के वैष्णव कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर, दादू और चंडीदास ने जो कहा था, उसे नई भाषा और नए रूपकों में ढाल कर 'गीतांजलि' विश्व के सामने आई और उसका विशेष स्वागत किया गया। रहस्यवादी प्रेममय सत्ता का अन्यतम अनुभव और उसके प्रति आत्म-समर्पण, ये गीतांजलि के विषय थे। इसके प्रभाव से हिन्दी में जयशंकरप्रसाद की पहली रहस्यवादी कविताएँ और रायकृष्णदास के 'साधना' के गीत लिखे गये। वेदांत और भक्ति के आधार पर खड़ा 'गीतांजलि' का आधुनिक रहस्यवाद खड़ी बोली के आधुनिक काव्य की सब से प्रमुख प्रवृत्ति बन गया। आधुनिक काल की रहस्यवादी कविताएँ कई प्रकार की होती हैं—

(१) भक्ति के आधार पर मानवीय भावनाओं की व्यंजना जैसे

अरे अशेष, शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा
आमेरे आराध्य, खिला लूँ मैं भी तुझे खिलौना-सा

(माखनलाल)

या वियोगीहरि की भक्ति-परक कविताएँ

(२) दार्शनिक सिद्धांत पर स्थिर रहस्यवाद जैसे

भर देते हो
बार बार, प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो

(निराला)

तेरे घर के द्वारा बहुत हैं किसमें होकर आऊँ मैं

(मैथिलीशरण गुप्त)

(३) दुःखवाद और बौद्ध दर्शन पर आधारित नश्वरवाद—

प्रियतम। आओ, अवधि मान की
भी होती है, जाने दो

(रामनाथ सुमन)

या

जीवन-तरी तीर पर ला दे
करुणामय करुणा कर मुझ पर आ दो दौड़ चला दे
(प्रसाद)

या

महादेवी वर्मा का काव्य जिसका आधार ही सार्वभौम करुणा, अन्यतम मिलन और विरह है। १९१३—२५ तक इस प्रकार की कविताओं का विकास होता गया। प्रधान कवि थे मैथिलीशरण (झंकार), निराला (परिमल), प्रसाद (झरना, आंसू, लहर), सुमन, पदुमलाल पुन्नालाल, मोहनलाल महतो। इसके बाद तो इस प्रकार की कविताओं की बाढ़ आ गई। १९२५ ई० के बाद के कवियों में सबसे प्रमुख हैं रामकुमार वर्मा (चित्ररेखा, चंद्रकिरण) और महादेवी वर्मा (यामा, दीपशिखा)। १९३६ ई० के बाद हमारे काव्य पर समाजवाद की नई राजनैतिक धारा का प्रभाव पड़ा है और अनेक उलझी हुई प्रवृत्तियाँ सुलझ गई हैं। धारा के रूप में रहस्यवादी काव्य लगभग समाप्त हो गया है, यद्यपि कुछ प्रमुख कवि अब भी उस प्रकार की कवितायें लिखे जा रहे हैं। अब राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय चेतना का प्रकाशन काव्य में होने लगा है।

१९वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों ने कई प्रकार के नये 'रहस्यवादों' की सृष्टि की। वास्तव में रहस्यवाद सहजज्ञान (Intution) पर खड़ा होता है और किसी भी विषय को एकांततः सहज अनुभूति के द्वारा देखा जा सकता है। कवियों ने प्रेम, प्रकृति, बालक और सौन्दर्य को एकांततः सहजानुभूति द्वारा देखा। इससे रहस्यवाद के कई प्रकार चले— ेम रहस्यवाद Love mysticism :) Shellry, प्रकृति रहस्यवाद (Nature mycticism : Wordsworth), बालक रहस्यवाद Child mysticism: Blake) और सौन्दर्य रहस्यवाद

(Beauty mysticism)। १६१३ ई० से बाद की नई कविता पर इन सभी कवियों का प्रभाव पड़ा और रहस्यवादी काव्य धार्मिकता की पेचीली गलियों से बाहर आ गया, यद्यपि प्रधानता उसी की रही। हिन्दी में इन नये प्रकारों पर सुन्दर कविताएँ लिखी गईं। प्रेम रहस्यवाद 'प्रसाद' के काव्य में मिलता है; प्रकृति में चमत्कार देखने की प्रवृत्ति पंत में; बालक के प्रति भी पंत में रहस्यवादी प्रवृत्ति मिलती है। सौन्दर्य-रहस्यवाद का विशेष प्रचलन है और प्रसाद, पंत और निराला इसके कवियों में प्रधान हैं। इनके काव्य से रहस्यवाद के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जैसे

दूत, अलि, ऋतुपति के आए
फूट हरित पत्रों के उर से स्वर सप्तक छाए। दूत०
काँप उठी विटपी, यौवन के
प्रथम कंप-मिस, मंद पवन से,
सहसा निकल लाज-चितवन के
भाव-सुमन छाए
दूत, अलि, ऋतुपति के आए

(निराला)

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि, यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य - पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार ?

(पंत)

जब इस तिमिरावृत मंदिर में
उषालोक कर उठे प्रवेश
तब तुम हे मेरे हृदयेश
कर देना झट हाथ उठा इस

दीपक की ज्वाला निःशेष
यही प्रार्थना है सविशेष

(सियारामशरण)

बैठ कर सारी सूनी रात,
तुम्हारे चुम्बन का आघात,
याद कर देखा करता, नाथ,
विरहिणी आँखों की बरसात

(रामनाथ 'सुमन')

यही नहीं, भारतीय आत्मा जैसे कुछ कवियों ने राष्ट्रीय भावना को भी एकांतिक अनुभूति के रूप में देखकर उसे रहस्यवादी बना दिया और 'राष्ट्रीय रहस्यवाद' जैसी एक नई श्रेणी की सृष्टि की।

आधुनिक रहस्यवादी काव्य 'छायावाद' काव्य का एक विशिष्ट अंग मात्र है। ईश्वर की रहस्यमयी सत्ता, उसके प्रति विरह, मिलन और आत्म-समर्पण इसके मुख्य विषय हैं। यह रहस्यवाद रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' और कबीर एवं बुद्ध के दुःखवाद से प्रभावित है। इसमें कितनी ईमानदारी है, कितना अनुकरण, यह दूसरी चीज़ है। आधुनिक रहस्यवादी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति के अनेक रूप हैं—

(१) सौन्दर्यात्मकता

(२) कबीर की भाँति यथार्थवादी अद्वैतवाद जिसमें सूफ़ी रहस्यवाद की भी झलक मिलती है

(३) वेदांतिक रहस्यवाद

(४) प्रकृति-सबन्धी रहस्यवाद

(५) प्रेम-सम्बन्धी रहस्यवाद

(६) अज्ञात के प्रति रहस्यात्मक आकर्षण और उसकी अप्राप्ति के कारण वेदना का अनुभव। स्वयं रहस्यवादी कवियों की दृष्टि में 'रहस्यवाद' क्या चीज़ है यह जानना भी उपादेय है। 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में लिखते हुए 'प्रसाद' कहते हैं—

[१] काव्य की आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।

[२] वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्य-रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।

[३] रहस्यवाद सच्चा भी हो सकता है और मिथ्या भी। 'प्रसाद' ने मिथ्या रहस्यवाद के उदाहरण दिये हैं।

[४] 'प्रसाद' के अनुसार रहस्यवाद की अपनी दार्शनिक एवं काव्य-परम्परा है, परन्तु मध्ययुग में मिथ्या रहस्यवाद का इतना प्रचार हुआ कि सच्चे रहस्यवादी पुरानी चाल को छोटी मंडलियों में लावनी गाने और चंग खड़काने लगे। प्रसाद के अनुसार रहस्यवाद का आधार आर्य अद्वैत धर्म-भावना है। उन्होंने ऋग्वेद के समय से ले कर आज तक की रहस्यवादी चिन्ता का इतिहास लिखा। इस ऐतिहासिक विवेचना में प्रसाद आर्यों की दो मूल चिंतना-धाराओं तक जाते हैं। आर्यों में ऐकेश्वरवाद और आत्मवाद की दो चिंताधाराएँ अलग-अलग चल रही थीं। ऐकेश्वरवाद के प्रतिनिधि थे वरुण और आत्मवाद के इंद्र। इस प्रकार भारत के प्राचीनतम इतिहास के समय से दो धाराएँ बराबर चली आती हैं, एक विकल्पात्मक बुद्धिवाद की धारा और दूसरी आनन्दवाद की धारा। कठ, पांचाल, काशी और कोशल आनन्दवादियों के केन्द्र थे। मगध का सम्बन्ध व्रात्यों से था। सदानीरा के उस पार का देश दार्शनिक चिंतन और दुःखवाद की भूमि रहा है। अद्वैत रहस्यवाद की परंपरा उपनिषदों के ऋषियों से प्रारंभ होती है और आगमवादी टीकाकार, योगी, सिद्ध और संत इस धारा को आगे बढ़ाते हैं। सिद्धों और संतों के रहस्य संप्रदाय की परंपरा में अंतिम नाम तुकनगिरि और रसालगिरि आदि के हैं जो लावनी में शुद्ध रहस्यवाद, आनन्दवाद और अद्वयता की धारा बहाते रहे हैं। आधुनिक रहस्यवाद के संबंध में प्रसाद का मत

है—"वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष सहानुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित होता है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें संदेह नहीं।"

(१) 'साधना' (१९१९)

आधुनिक युग की रहस्यवादी कविताओं पर रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि का प्रभाव स्पष्टतयः लक्षित है, परंतु एक स्थान में यदि इस प्रभाव का विवेचन करना हो, तो हमें रायकृष्णदास की साधना का अध्ययन करना पड़ेगा।

'साधना' पर रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि का प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु इसमें केवल निर्गुण अदृष्ट सत्ता के प्रति प्रेम और रहस्य के गीत ही नहीं गाये गये हैं, भक्ति-काव्य की वेदना और विह्वल भावना को भी इसमें स्थान मिला है। रवीन्द्रनाथ के रहस्यगीतों की प्रेरणा मूलतः उपनिषदों से प्राप्त है। हृदय-मन-आत्मा में व्याप्त रहने वाली उस चित्सत्ता को वे 'अन्तरतर', 'जीवन-देवता' इत्यादि नामों से पुकारते हैं। वे गाते हैं—

के गो अन्तरतर से
आमार चेतना, आमार वेदना
तारि सुगभीर परशे
आँखिते आमार बुलाय मंत्र,
बाजाय हृदय - बीनार तंत्र,
कत आनन्दे जागाय छन्द
कत सुखे-दुखे हरषे

सोनालि रूपालि सबुजे सुनीले
से एमन माया केमने गाँथिले,
तारि से आड़ाले चरन बाड़ाले
डूबाले से सुधासरसे
कत दिन आसे कत युग जाय
गोपने गोपने परान भुलाय,
नाना परिचय नाना नाम लये
निति निति रस बरषे

(हे अन्तरतर! मेरी चेतना, मेरी वेदना तुम्हारे गंभीर स्पर्श से पुलकित हो उठी। आँखों से तुम्हारा निमंत्रण पढ़ा; हृदय में तुम्हारी बीणा बज उठी। किस आनन्द-से, किन सुख-दुख, हर्ष-विषाद से मेरे गीत जाग उठे! सुनहरे, रूपहले, हरे, नीले रूपों में यह तुम्हारी ही माया का प्रसार है—वही जो अपने सुधास्पर्श से तुम्हारे चरणों को डुबा रहा है। कितने दिन हुए, कितने युग बीते, चुपके-चुपके प्राण छले गये। नाना नाम-रूपों के परिचय के साथ नित-नित तुम्हारा माधुर्य-रस मेरे प्राणों पर बरसता है।) कभी वे उस महान सत्ता के प्रति कृतज्ञता के भाव से भर जाते हैं—

आमारे तूमि अशेष करेछि
एमनि लीला तव
फूराय फेले आवार भरेछि
जीवन नव नव

(तुमने मुझे अशेष अर्थात् अनन्त बनाया है। ऐसी ही तुम्हारी लीला है। तुम बार बार इस रिक्त पात्र में नया-नया जीवन भर देते हो, यह तुम्हारा चमत्कार है।) कभी उस 'सुन्दर' के संग हो लेते हैं—

पहे लोभिनु संग तव,
सुन्दर, हे सुन्दर

पुण्य हल' अंग मम
धन्य हल' अंतर
आलोके मोर चक्षु छूटि
मुग्ध हये' उठल फूटि
हृद - गगने पवन हल'
सौरभते मन्थर

'हे सनुदर ! यह लोभी (आत्मा = जीव) तुम्हारे साथ लगा है। तुम्हारे स्पर्श से मेरे अंग पुण्यवान हो गये, मेरा अंतर धन्य हो उठा। मेरे नेत्रों से आलोक मुग्ध होकर फूट उठा, मेरे हृदय-रूपी गगन में सौरभ से मंद-मंद पवन बहने लगा।'

वास्तव में इस प्रकार के गीतों में चंडीदास प्रभृति वैष्णव भक्तों की भावना और औपनैषिदिक ऋषियों के रहस्यवाद (निर्गुणवाद) का विचित्र योग हुआ है। अधिकांश गीत भारतीय भक्ति-परंपरा से ही प्रभावित हैं, यद्यपि निर्गुण के प्रति कहे जाने के कारण एवं अभिव्यंजना के नये ढंग के कारण वे अनोखे लगते हैं। आत्मसमर्पण का भाव तो इन गीतों का प्राण है—

गाव तोमार सुरे
दाउ से बीनायंत्र
शुनव तोमार वाणी
दाउ से अमर मन्त्र
करव तुमार सेवा
दाउ से परम शक्ति
चाहव तोमार मुखे
दाउ से अचल भक्ति
सहव तोमार आघात
दाउ से विपुल धैर्य

वहव तोमार ध्वजा
दाउ से अटल स्थैर्य

(तुम्हारे सुर में गा सकूँ, मुझे वह वीणा दो; तुम्हारी वाणी सुन सकूँ, मुझे वह अमर मंत्र दो। जिससे तुम्हारी सेवा कर सकूँ, वह परम शक्ति मुझे दो। नितप्रति तुम्हारा ही मुख देखता रहूँ, ऐसी अविचल भक्ति मुझे दो। वह विपुल धैर्य दो, जिसके सहारे तुम्हारे दुःखों-सुखों का आघात सह सकूँ। तुम्हारी ही ध्वजा लेकर इस विश्व में चलूँ, ऐसी अटल स्थिरता दो।) 'साधना' का लेखक भी इसी आत्मसमर्पण के गीत गाता है—"हे नाथ, मुझे उस लोक में जागृत करो जहाँ मैं संसार के दुःख को अपने ऊपर ले लेने के सुख में मत्त हुआ विचरूँ। निखिल विश्व का ताप जहाँ मेरे रक्त की। उष्णता बनाये रखे और अनन्त विश्व-वेदना मेरे संगीत की सामग्री बने।

जहाँ एक मात्र तुम्हीं मेरे संगी हो, और सब प्राणियों की कामना मुझमें एकत्र होकर तुम से प्रणाम करने की शक्ति दे।

जहाँ भुवन का भुवन मेरा भवन हो और ससीम जीवन के बदले असीम जीवन पाकर मैं तुम्हारे साथ नित्य नई क्रीड़ा किया करूँ।" संसार में प्रत्येक वस्तु की नश्वरता के पीछे जिस प्रकार एक अनश्वर, नित्य-नवीन, अनिवर्चनीय सत्ता के विविध खेल चल रहे हैं, उनकी बात वह कहता है—"तुम अमृत को बार-बार कच्चे घटों में भरते हो और मैं उन्हें गलते देखता हूँ।

मुझे अचरज होता है कि अमृत के पात्र बन कर भी वे क्यों नष्ट होते हैं और मैं पुकार उठता हूँ कि तुम्हारा अमृत झूठा है।

तुम कुछ नहीं बोलते और मैं समझता हूँ तुम निरुत्तर हो गये।

पानी बरसने से मैं मिट्टी को गलते देखता हूँ। पर वही गली मिट्टी जब हरी हो जाती है तब मेरी आँखें खुलती हैं। मैं जो उन गले हुए घटों की ओर देखता हूँ तब मुझे मालूम होता है कि उनके

प्रत्येक कण को बेध कर सुधा ने उसे अमरता प्रदान की है।" इसी प्रकार एक अन्य गद्यगीत में वह कहता है—"हे मेरे नाविक, यह कैसी बात है कि जब मेरी नाव मँझधार में थी तब तो तुम्हें हटाकर मैंने डाँड़ ले लिए थे और सगर्व तुम्हारे आसन पर आसीन होकर बड़ा भारी खिवैया बन बैठा था। पर जब वह धार से पार होकर गंभीर जल में पहुँची तब मैं हार कर उसे तुम्हारे भरोसे छोड़ता हूँ।"

इस प्रकारके अज्ञात सत्ता के प्रति प्रेम, मिलन, विरह और समर्पण के भाव रहस्यवाद के विशिष्ट अंग हैं। यह कहना ठीक नहीं होगा कि हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के गीतों की कोई परंपरा नहीं थी। भक्तों और सन्तों के काव्य में यही भावनायें सहस्र सहस्र भंगिमाओं के साथ उपस्थित थी। कहना केवल इतना ही है कि आधुनिक रहस्यवाद को यह प्रेरणा रवीन्द्रनाथ के गीतों से मिली, स्वयं अपने घर के सन्त कवियों और मीरा जैसे भक्तों के गीतों की ओर वह बाद को मुड़ा। परन्तु रवि बाबू से प्रभावित होकर भी आधुनिक रहस्यवाद की धारा ने हिन्दी परंपरा से अपने को शीघ्र ही संबद्ध कर लिया, यह श्रेय की बात है।

[२] 'प्रसाद' से पहले का रहस्यवादी काव्य

प्रसाद की पहली महत्वपूर्ण रचना आँसू १६२५ में प्रकाशित हुई, परन्तु पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उनकी नई अभिव्यंजना-शैली की कविताओं की प्रसिद्धि १९१८ के लगभग होचुकी थी। अतः आधुनिक रहस्यवादी कविताओं का विशेष निर्माण १६१८ के बाद ही हुआ। परन्तु 'सरस्वती' में कुछ ऐसी रचनाएँ १६१८ से पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं, जिन्हें हम रहस्यवादी काव्य के अंतर्गत रख सकते हैं। १६१३-१४ से ही इस प्रकार की रचनाएँ दिखलाई पड़ने लगी थीं और इनके लेखकों में प्रमुख थे मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। 'झंकार' शीर्षक संग्रह में प्रकाशित कई कविताएँ

इसी समय प्रकाशित हुई थीं। इन रचनाओं में 'नक्षत्र-निपात' (१९१४), अनुरोध (१९१५), पुष्पांजलि (१९१७), स्वयंआगत (१९१८) इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार की रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं

(२) निकल रही है उर से आह
ताक रहे सब तेरी राह
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी

(३) प्यारे! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया,
दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस, कहा
सो जाने के लिए जगत् का यह प्रकाश है जाग रहा
किंतु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा
निरुद्देश नखरेखाओं में देखी तेरी मूर्ति, अहा
(मैथिलीशरण गुप्त)

(४) हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीड़ा-स्थान

(५) जब संध्या को हट जावेगी भीड़ महान्
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान
शून्य कक्ष के अथवा कोने में ही एक
बैठ तुम्हारा करूँ वहाँ नीरव अभिषेक
(मुकुटधर पांडेय)

पं० बदरीनाथ भट्ट और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के कुछ गीत भी इसी प्रकार के हैं। इन कवियों को हम द्विवेदीयुग और छायावाद युग के बीच की कड़ी कह सकते हैं। इन कवियों की कविता के सम्बन्ध में ही आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'ये कवि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नई कविता का संचार कर रहे थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपों पर प्रेमदृष्टि डालकर, उसके रहस्य-भरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे। भक्ति क्षेत्र में उपास्य की एकदेशीय या धर्म-विशेष में प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ़ रहे थे जिसमें सुन्दर रहस्यात्मक संकेत भी रहते हैं। अतः हिंदी कविता की नई धारा का प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को—समझना चाहिये। जहाँ तक मैथिलीशरण गुप्त का सम्बन्ध है यह कह देना उचित होगा कि उनमें रहस्यात्मक प्रवृतियाँ बहुत कम हैं और जो हैं उनके लिए वे रवीन्द्रबाबू की 'गीतांजलि' के ही ऋणी निकलेंगे। जहाँ तक भाषा और साहित्य-कला का सम्बन्ध है, उनकी रचनाओं में कोई ऐसी विशेषता नहीं थी कि लोग उनकी ओर आकर्षित हों। हाँ, मुकुटधर पांडेय की कवितायें आधुनिक रहस्यवाद-काव्य को ही श्रेणी में रखी जा सकती हैं और उनमें भाषा और कला के नए विकास के साथ रहस्य-भावना का भी अनेक प्रकार का निश्वास मिलेगा। यह शोक की बात है कि उनकी रचनाओं का न कोई सुन्दर संकलन प्रकाशित हुआ है, न उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार ही हुआ है।

[३] 'प्रसाद' का रहस्यवादी काव्य

'रहस्यवाद' शीर्षक अपने एक निबन्ध में प्रसादजी रहस्यवाद की व्याख्या की है और उसके ऐतिहासिक तत्त्वों का निर्णय किया है। उनके विचारों को हम संक्षेप में इस प्रकार दे सकते हैं: '(१) काव्य में

आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।

(२) रहस्यवाद मूल रूप से सेमेटिक धर्म-भावना से मिला है। सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म-भावना से अधिक परिचित थे।

(३) सूफ़ी सम्प्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचारधारा है जो अरब और सिंध का परस्पर सम्पर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई।

(४) काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका था—कामस्तद्ग्ने समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथम यदासीत्। यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है। × × शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्य वाला रहस्य-संप्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा कामकला की सौन्दर्य-उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधना-प्रणालियाँ हैं जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने संघों में प्रचार किया था।

(५) वैदिक काल में ही वरुण और इन्द्र को केन्द्र बनाकर ऐकेश्वर वाद और आत्मवाद की दो विचारधाराएँ चलीं। इसी आत्मवाद को प्रेरणा ने आर्यों में आनंदवाद की विचारधारा उत्पन्न की। इस आत्मवाद का सबसे पूर्ण विकास उपनिषदों में हुआ। उपनिषदों में आनंद की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गई। यहीं से रहस्यवाद का जन्म हुआ। मुण्डकोपनिषद ने 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' और कठोपनिषाद ने 'नैसा तर्केण मतिरापनेया' कह कर रहस्य विचार-परंपरा को आगे बढ़ाया। मगध की पूर्वी सीमा सदानीरा के तट पर इस रहस्यवाद के केन्द्र बन गये। आत्मा और अद्वैत के सम्बन्ध में संकल्पात्मक विचार होने लगे। धीरे धीरे आत्मवाद और रहस्यवाद की यह विचारधारा गुह्य मानी जाने लगी। श्वेताश्वेतर में कहा गया—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्
ना प्रशान्ताय दातव्यं ना पुत्राया शिष्याय वा पुनः

एक प्रकार की गुप्त साधना-पद्धति ही चल पड़ी उसका उल्लेख छान्दोग्य आदि उपनिषदों में प्रचुरता मे है। सिद्ध साहित्य में जिस तरह की साधनाओं का विवरण था, वे बहुत कुछ इन ऋषियों और इनके उपनिषदों के अनुकरण मात्र थे, परन्तु इनमें बुद्धिवाद की प्रधानता थी और उपनिषदों के योग (तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्—कठ०) को अपने ढंग पर अनात्मवाद के साधन के लिए उपयोग हुआ है। सिद्धों पर आगमों का भी प्रभाव है। प्राचीन आनन्दमार्ग, अद्वैतवाद और योग को बौद्ध दर्शन की भित्ति पर ग्रहण किया गया है। शैवरहस्य संप्रदायों और पाशुपत योग की अनेक बातें सिद्धों को ग्राह्य हुई। काम-वासना-प्रणाली भी दृष्टांत के रूप में स्वीकृत हुई। श्रुतियों और उपनिषदों में रति-प्रीत की व्यवस्था थी। अद्वैतमूला भक्ति-रहस्यवादियों ने यह निरन्तर प्रांजल होती गई।

(६) प्रचीन विवेक और आनन्द को विशुद्ध धाराएँ अपनी परिणिति में अनातम और दुःखमय कर्मवादी बौद्ध हीनयान संप्रदाय तथा दूसरी ओर आत्मवादी आनन्दमय रहस्य संप्रदाय के रूप में प्रकट हुईं। अनातम विचारधारा ने महायान, शून्यवाद और अन्त में गौड़पाद और शंकर के मायावाद को जन्म दिया जो अन्ततः दुःखवाद है। परन्तु शीघ्र ही अनात्मवादियों पर आनन्दवाद का प्रभाव पड़ा। शून्यवाद को मानते हुए भी बौद्ध द्वैतमूला भक्ति मानने लगे। आगम संप्रदाय की अनेक बातें ग्रहण कर ली गईं और कामिनी, काम और सुरा को लेकर अनेक रहस्यपूर्ण साधना-पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। नाथ-संप्रदाय आगमवादी था, परन्तु ईश्वरवादी होने पर भी उसमें शून्य का महत्व था। स्पष्ट है कि प्रसाद जी के मतानुसार रहस्यवाद की परंपरा वेदों से मिलती है। वैदिककाल से सन्तों के समय तक रहस्यवाद कई तरह की साधना-पद्धितियों का केन्द्र रहा। जहाँ बाह्य आडम्बर को

प्रधानता के साथ उपासना थी, वहाँ भीतर सिद्धांत में अद्वैतभावना रहस्यवाद की सूत्र-धारिणी थी। वैदिक काल में इन्द्र के अनुकरण में जो अद्वैत की प्रतिष्ठा हुई थी, वही अनेक रूपों में बराबर चलती रही। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के रहस्यवादी काव्य की पृष्ठभूमि में वेदों, उपनिषदों और आगमों की रहस्यमयी आनन्द-साधना की परम्परा है।

यहाँ रही अद्वैत उपासना की बात। द्वैत उपासकों ने श्रीकृष्ण को आलम्बन मानकर आनन्द और प्रेम के साथ विरह और दुख की भी सृष्टि की। भागवत की प्रेम-विरहमूलक भक्ति इसी की परिणिति इसे भी एक प्रकार की रहस्य की धारा कह सकते हैं। मीरा, सूरदास, देव, रसखान और घनानन्द ने प्रेम के रहस्य के ही गीत गाये हैं। विरहोन्मुख प्रेम की रहस्यमय अभिव्यक्ति सबसे सुन्दर रूप में भक्तों में ही हुई है।

वर्तमान हिन्दी काव्य में रहस्यवाद के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—'वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।'

प्रसाद जी के मन्तव्य के अनुसार वर्तमान रहस्यवाद के मूल में भी अद्वैत भावना है, परन्तु उसमें साधनात्मक अनुभूति की प्रधानता नहीं है, संकल्पात्मक अनुभूति की प्रधानता है। आधुनिक रहस्यवाद के अंग हैं—

(१) अपरोक्ष अनुभूति
(२) समरसता

(३) प्राकृतिक सौन्दर्य
(४) विरह
(५) आनन्दवाद

इन सभी अंगों में स्वयं प्रसाद की प्रतिभा ने योग दिया है। 'कामायनी' आधुनिक युग का आनन्दवाद का सबसे बड़ा ग्रंथ है।

प्रसाद जी की रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का पहला उन्मेष 'झरना' (१९२८) में मिलता है। इसके भाव-पक्ष पर रवीन्द्र नाथ की गीतांजलि (१६११ ई०) का प्रभाव स्पष्ट है। यह कविताएँ मुख्यतः १९१४-१७ में लिखी गईं और इनमें और 'साधना' (१६१६) के गद्यगीतों में विशेष अन्तर नहीं है। रवीन्द्रबाबू ने गीतांजलि की एक कविता में पूजा, प्रार्थना और तपस्या की जगह सामान्य उपेक्षित मानव के प्रति प्रेम-व्यवहार की महत्ता, की प्रतिष्ठा की है—

"Deliverance ? What is this deliverance to be found ? Our master himself has joyfully taken upon him the bonds of creation ; he is bound with us all forever. Come out of thy meditations and leave aside thy flowers and incense ! What harm is there if thy clothes become tattered and stained ? Meet him and stand by him is toil and in sweat of thy brow."

प्रसाद जी ने इसी स्वर में कहते हैं—

प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति ?
डरा है तू निज पापों से
इसी से करता निज अपमान
दुखी पर करुणा क्षण भर हो
प्रार्थना पहरों के बदले,
हमें विश्वास है कि वह सत्य
करेगा आकर तव सम्मान (आदेश)

एक दूसरी कविता में कवि कहता है—

हँसी आती है मुझको तभी
जब कि यह कहता कोई नहीं
अरे सच, यह तो है कंगाल
अमुक धन उसके पास नहीं

× × ×

शांत रत्नाकर का नाविक
गुप्त निधियों का रक्षक यक्ष,
कर रहा वह देखो मृदुहास
और तुम कहते हो कुछ नहीं

('कुछ नहीं')

इसे रविबाबू की इस कविता की वीथिका में पढ़िये—

"On many an idle day have I grieved over lost things. But nothing is never lost, My Lord. Thou hast taken every moment of my life in thine own hands. Hidden in the heart of things thou art nourishing seeds into sprouts, buds into blossoms, and ripening flowers into fruitfulness.

प्रसाद मूलतः 'रहस्य' या 'आत्मा-परमात्मा' के कवि नहीं हैं। वे मूलतः प्रेम, विलास और सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने आनन्द के आधार पर मानव-जीवन के दुख-सुख की व्याख्या की है। वे उस अर्थ में रहस्यवादी कवि नहीं जिस अर्थ में हम कबीर, मीरा या महादेवी को रहस्यवादी कहेंगे। इस संग्रह की कई कविताओं में कवि पार्थिव प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे देता है—

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये
यह अलस जीवन सफल सब हो गया
कौन कहता है जगत है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा;
कोकिलों का स्वर विपंची नाद भी,
चंद्रिका, मलयज, पवन, मकरंद औ'
मधुप माधविका कुसुम से कुञ्ज में
मिल रहे सब साज मिलकर बज रहे
आज इस हृदयाब्दि में बस क्या कहूँ,
तुङ्ग तरल तरङ्ग कैसी उठ रही

(मिलन)

इस संग्रह की कुछ कविताओं के बाद फिर हम लहर (१९३५) के २६ प्रगीतों को रहस्यवाद के भीतर रख सकते हैं। इन गीतों में हम कवि को शुद्ध रहस्यवादी भूमि पर प्रतिष्ठित पाते हैं। जीव और ब्रह्म की लुका-छिपी को कवि अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है। ब्रह्म जीव के साथ आँख-मिचौनी खेलता है, परन्तु उषा की अरुणिमा के रूप में बहने वाली उसके पदचाप की लाली से, उसकी हँसी से, रूप-रस-गंध में हो रहे उसके खेलों से जीव उसे पहचान ही लेता है। अतः कवि कहता है—

देख न लूँ, इतनी ही तो इच्छा है, लो सिर झुका हुआ
कोमल किरन-उँगलियों में ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ
फिर कह दोगे, पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो
किन्तु उन्हीं अधरों से पहले उनकी हँसी दबाओ तो
सिहर-भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो
बेला बीत चली है चंचल बाहुलता से आ जकड़ो
तुम हो कौन और मैं क्या हूँ इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित, मेरे क्षितिज, उदार बनो

वह इसी पर संतोष कर लेगा। उसका प्रियतम उसे अपना मुँह नहीं

भी दिखलाये, उसका शीतल स्पर्श उसे मिलता रहे। वह कहता है—

शशि सी वह सुन्दर रूप-विभा
चाहे न मुझे दिखलाना
उसकी निर्मल शीतल छाया
हिमकन को बिखरा जाना

परन्तु प्रियतम की निष्ठुर आँख-मिचौनी और उसकी आतुर अपलक प्रतीक्षा उसे पागल बना देती है। जीवन में ऐसे क्षण आते हैं कि भीतर की वेदना हाहाकार करती हुई बाहर निकलने लगती है—

धीरे से वह उठता पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार

और कभी-कभी वह चिल्ला पड़ता है—

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरने वाले को
सूने नभ में आग जला कर
यह सुवर्ण-सा हृदय गला कर
जीवन-संध्या को नहला कर
रिक्त जलधि करने वाले को

परन्तु अन्त में उसके हृदय की प्रतिध्वनि ही उसे रहस्य बताती है। यह 'प्यार' तो खोजने की वस्तु नहीं है—

पागल रे वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन को गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार

यही नहीं, कवि अनुभव करता है कि इस विशद विश्व में करुणा का ही साम्राज्य है। वही सत्य है, शेष मिथ्या है। शेष प्रताड़ना है। प्रियतम ने उसे ठुकरा दिया है। परन्तु इस ठुकराने से ही वह क्या अप्रिय हो गया। इससे तो वह और प्रिय बन गया। कवि कहता है—

निधरक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मृदु प्याली को
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणों की लाली को
जीवन-रस के बचे हुए कन
बिखरे अम्बर में आँसू बन
वही दे रहा था सावन घन
वसुधा की हरियाली को

सच तो यह है, करुणा ही सत्य है। दुःख में ही प्रियतम का निवास है। उसी में उसे पाना होगा। जीवन-मरण, सुख-दुख की रहस्यमयी क्रीड़ा को जब मनुष्य समझ ही नहीं पाता तो क्या करे? तब क्रोध क्यों! क्षोभ क्यों? निराशा क्यों! आसक्ति क्यों!

तब क्यों रे फिर यह सब क्यों
यह रोष-भरी लाली क्यों
गिरने दे नयनों से उज्ज्वल
आँसू के कन मनहर
बसुधा के अंचल पर

परन्तु करुणा और वेदना के इन गानों से, इस जीवन-दर्शन से आत्मा की पुकार दबती तो नहीं; उसे भुलाया तो नहीं जा सकता। प्रार्थना का अधिकार तो जीव को रहेगा ही। अतः 'लहर' में प्रार्थना के कई सुन्दर गीत हैं, जैसे

मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्राण समा जा रे

जिससे कन-कन में स्पंदन हो
मन में मलयानिल चंदन हो
करुणा का नव अभिनंदन हो
वह जीवन गीत सुना जा रे
खिंच जाय अधर पर वह रेखा
जिसमें अंकित मधु का लेखा
जिसको यह विश्व करे देखा
वह स्मिति का चित्र बना जा रे

× × ×

जग की सजल कालिमा रजनी में
मुख चंद्र दिखा जाओ
हृदय - अँधेरी - झोली, इसमें
ज्योति - भीख देने आओ
प्राणों की व्याकुल पुकार पर
एक मींड़ ठहरा जाओ
प्रेम-वेणु की स्वर-लहरी में
जीवन - गीत सुना जाओ

कवि जीवन में एक सार्वभौमिक प्रभात के जागने की कल्पना करता है और उसका आह्वान करता हुआ कहता है—

अब जागो जीवन के प्रभात
वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात
अब जागो०

तम नयनों की तारायें सब—
मुँद रहीं किरण दल में हैं अब

चल रहा सुखद यह मलय-वात
अब जागो०
रजनी की लाज समेटो तो,
कलरव से उठकर भेंटो तो,
अरुणाचल में चल रही बात
अब जागो०

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कुछ थोड़े से गीतों में कवि ने आध्यात्मिक आशा और निराशा के सुन्दर रूपक भर दिये हैं।

परन्तु 'प्रसाद' के रहस्यवादी चिन्तन में सबसे उज्ज्वल मणि 'कामायनी' है। साधारणतः हम 'कामायनी' को रहस्यवादी काव्य नहीं कह सकते। उसे हम दार्शनिक काव्य भी नहीं कह सकते। जीव, आत्मा, परमात्मा जैसे गंभीर विषयों पर कवि को कुछ भी कहना नहीं है। आधुनिक जिज्ञासा उतनी आध्यात्मिक नहीं है, जितनी आधिभौतिक। अतः आज के कवि के लिए जीवन-दर्शन ही सब कुछ है। मनुष्य अपनी नैसर्गिक विभिन्न शक्तियों का प्रयोग कैसे करे! उसके जीवन का क्या लक्ष्य हो? वैयक्तिक और सामूहिक चेतना में समन्वय कैसे स्थापित हो? ज्ञान, श्रद्धा और कर्म के त्रि-सत्यों को किस अनुपात में ग्रहण किया जाये। वर्तमान युग विज्ञानमयी तर्कप्रवीण बुद्धिमत्ता का युग है। पिछला युग श्रद्धामूलक विश्वास का युग था। तब भावना की विजय थी, अब तर्क की विजय है। प्रसाद ने दोनों युगों में ठीक पटरी बिठाने की चेष्टा की है। वर्तमान समता विज्ञान-प्रधान बुद्धिजीवी है—इसीलिये अधिकारों पर बल है और वर्ग संघर्ष के बादल चारों ओर उमड़ रहे हैं। प्रसाद का संदेश है कि विज्ञान और बुद्धि की अपनी सीमायें हैं—ये असुर भाव को जाग्रत कर सकते हैं। देव-भाव की जाग्रति के लिए श्रद्धा की ओर देखना होगा। आनंद ही सत्य है। आनंद शिव (कल्याण-मूर्ति) भी हैं। इसी आनंद की प्राप्ति भावी जीवन-दर्शन होगा। इसके लिए हृदय-बुद्धि का सामंजस्य आवश्यक

है। इड़ा (बुद्धि) और श्रद्धा के सहयोग से ही मानव (मननशील प्राणी) सच्चे स्वर्ग-सुख की प्राप्ति कर सकेगा। ध्येय न इड़ा है, न श्रद्धा है, आनन्द है। इस विश्व के मूल में आनन्द ही है, जिसके प्रतीकरूप में ऋषियों ने शंकर के तांडव नृत्य की कल्पना की है। प्रत्येक जीव इस महानन्द का प्रतीक है, स्फुलिंग है। जिस प्रकार अरणि से ज्वाला प्रगट होती है, उसी प्रकार श्रद्धा-बुद्धि के समन्वय से युक्त जीवन में आनन्द की अग्नि स्वतः फूट पड़ेगी। जीवन के भीतर का आनन्द बाहर प्रगट होगा और वह इस विश्व-प्रपंच में शिव (कल्याण) के तांडव-नृत्य (आनन्दोल्लास) का दर्शन करेगा। श्रद्धा के शब्दों में—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत
वह रूप बदलता है शत शत
कण विरह-मिलन-मय नृत्य-निरत
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत

तल्लीनपूर्ण है एक राग
झंकृत है केवल जाग-जाग

(दर्शन)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' शैवागमों के सूत्रों को इकट्ठा कर एक निश्चित 'आनन्दवाद' की स्थापना करते हुए दिखाई देते हैं। 'प्रवृति' और 'निवृत्ति' (गार्हस्थ और वैराग्य) की बँधी हुई लीकों के अतिरिक्त आनन्दवाद की एक धारा प्राचीन आर्यों के समय से चली आई है। इनमें 'नीतिवाद' [पाप-पुण्य] का झगड़ा नहीं। संतों और भक्तों के साहित्य में निवृत्ति ही को महत्ता है। प्रसाद ने पीछे लौटकर इन्द्र के समय की ओर इंगित किया। आर्यों और शैवागमों के आनन्दवाद को आधुनिकता का रूप देखकर उन्होंने एक नये प्रकार का रहस्यवादी दृष्टिकोण हिन्दीजगत को दिया। कामायनी का 'रहस्य' सर्ग आधुनिक रहस्यवाद की अमूल्य सम्पत्ति है।

(४) 'निराला' का रहस्यवादी काव्य

निराला दार्शनिक कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। वह अद्वैत वेदांती हैं। रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों में वर्षों रह चुके हैं। उनकी प्रवृत्ति भी दार्शनिकता की ओर है। परन्तु इन ज्ञातव्य बातों से निराला की कविता के दर्शनवाले अंग पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। परन्तु निराला की कविता की सब से दृढ़ भित्ति' उनका दार्शनिक चिन्तन है, इसे कदाचित् कोई भी समीक्षक अस्वीकार नहीं कर सकता। 'पंचवटी-प्रसंग' में उन्होंने जीव, ब्रह्म, ज्ञान, कर्म आदि आध्यात्मिक विषयों का विवेचन किया है, परन्तु सच तो यह है कि कवि की दार्शनिक चिंता में हमें उस प्रकार की क्रम-शृङ्खला नहीं मिलती जिस प्रकार की दार्शनिक की इसी प्रकार की विचारधारा में होती। आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठ भूमि में कबीर और सूरदास-तुलसीदास प्रभृति कवियों का सारा काव्य आ जाता है और इन कवियों के अध्ययन के कारण नए काव्य में दार्शनिक चिंता-पद्धति चल पड़ी है जिसके पीछे स्वयं कवि की अनुभूति का कोई बल नहीं।

'निराला' का विश्वास है कि दृष्ट सत्ता के पीछे एक अदृष्ट महान सत्ता है। इसी अदृष्ट सत्ता के प्रति कवि ने प्रार्थनात्मक गीत लिखे हैं। संभव है जिसे निरालाने 'खेवा' कविता में जीवन खेवनहार कहा है, वह रवीन्द्रनाथ का जीवन-देवता हो। परन्तु निराला की सारी आध्यात्मिक कविताएँ इसी स्वीकृति को लेकर आगे बढ़ती हैं। 'जुही की कली' और 'शैफालिका' कविताओं में जीवात्मा का इस अदृष्ट सत्ता से संबंध दिखलाया गया है। दोनों परस्पर अनन्य रूप से आश्रित हैं। कहीं अनन्त सांत की खोज में निकल पड़ता है, कहीं जीव के पूर्णतम विकास प्राप्त कर लेने पर परमात्मा स्वयं सहज रूप में प्राप्त हो जाता है। जीव-ब्रह्म का यह अनन्य संबंध "तुम और मैं" शीर्षक वाली कविता में स्पष्ट हो जाता है। रवीन्द्रनाथ और इक़बाल

ने भी इन्हीं शीर्षकों से कविताएँ लिखी हैं, परन्तु निराला की कविता में अनेक रूपकों द्वारा इस सम्बन्ध को सहज में ही उभार दिया गया है। जीव के ब्रह्म के प्रति सम्बन्ध को किसी एक रूपक से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। अनेक कड़े-कोमल सम्बन्धों द्वारा जीव ब्रह्म से बँधा है। कवि कहता है—

तुम आशा के मधुमास
और मैं पिक-कल-कूजन तान
तुम मदन पंच-शर-हस्त
और मैं हूँ मुग्धा अनजान
तुम अंबर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार घनपटल श्याम
मैं तड़ित तूलिका रचना
तुम रण-तांडव-उन्माद नृत्य,
मैं मुखर मधुर नूपुरध्वनि
तुम नाद-वेद-ओंकार-सार,
मैं कवि शृङ्गार-शिरोमणि
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति
तुम कुंद इन्दु अरविंद शुभ्र
तो मैं हूं निर्मल व्याप्ति

परन्तु जहाँ भाव भाषा के साथ पूर्ण रूप से गुंफित नहीं हो सके हैं, वहाँ कवि की कविता इतनी जटिल हो गई है कि साधारण पाठक उसे समझ ही नहीं सकता। 'परलोक' शीर्षक कविता है—

नयन मुँदेंगे जब, क्या देंगे
चिरप्रिय दर्शन ?
शत सहस्र-जीवन-पुलकित
प्लुत प्यालाकर्षण

अमरण-रणमय मृदु पदरज
विद्युत-घन-चुम्बन
निर्विरोध, प्रतिहत भी
अप्रतिहत आलिंगन

जब नयन मुँदेंगे (जब मैं मृत्यु को प्राप्त हूँगा) तब क्या वे चिरप्रिय मुझे दर्शन देंगे, जिनका दर्शन मात्र ही सहस्रों जीवनों को पुलकित करने वाला है, जिनमें सैकड़ों मदिरा के प्यालों की भाँति मादकता है ? जिनकी पदरज ही अमृतत्व दान करती है ! जिस प्रकार विद्युत और घन का गहरा प्रेम-विनिमय है। वैसा ही क्या मेरा उनका प्रेम-विनिमय होगा ? उस आलिंगन में कोई विरोध नहीं होगा। बाधा-बधंनहीन, अप्रतिहत वह आलिंगन होगा ? क्या अंत में इस तरह ही यह मिलन संभव नहीं हो सकेगा ?" सच तो यह है मूल भाव में कहीं भी अस्पष्टता नहीं है। जो अस्पष्टता है, वह भाव-प्रकाशन-शैली में। वास्तव में जिस समय यह कविता लिखी गई थी, उस समय तक हिंदी कविता की भाषा इतनी प्रौढ़ नहीं हुई थी कि वह महान भावों का सहज प्रकाशन करती। निराला को इस बात का श्रेय मिलना चाहिये कि उन्होंने अनेक प्रौढ़ दार्शनिक भावों के प्रकाशन के उपयुक्त भाषा गढ़ी। कहीं-कहीं उनकी दार्शनिक कविताएँ एवं दार्शनिक उक्तियाँ इतनी सुन्दर बन पड़ी कि वे आज भी हमारा मन मोह लेंगी। कभी-कभी जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब अज्ञात अनंत का स्पर्श साफ़ जान पड़ता है। ऐसा लगता है जैसे सारा जीवन पूर्णता से भर गया हो। जान पड़ता है, अनेक साधनाओं, अनेक कष्टों के बाद प्रिय हम पर अनुग्रह कर हमारे पास आप ही चला आया है। हम तब उस अदृष्ट प्रिय का स्वागत करते हैं। जीवन के कठिन क्षणों में प्रिय के इतने नैकट्य का अनुभव कर हम आनन्द विभोर हो जाते हैं। कवि कहता है—

कितने ही विघ्नों का जाल
जटिल, आत्मविस्तृत पथ पर विकराल;
कंटक-कर्दम-मय-श्रम-निर्मम कितने शूल;
हिंस्र निशाचर, भूधर, कंदर, पशु-संकुल
पथ घन-तम, अगम अकूल—
पार-पार करके आये, हे नूतन
सार्थक जीवन ले आए;
श्रम-कण में, बंधु, सकल श्रम
सिर पर कितना गरजे
वज्र बादल,
उपल वृष्टि, फिर शीत घोर, फिर ग्रीष्म प्रबल
साधक, मन के निश्चल
पथ के सचल,
प्रतिज्ञा के हे अचल, अटल
पथ पूरा करके आए तुम,
स्वागत हे प्रिय-दर्शन,
आये नव जीवन भर लाये

इस अज्ञात स्पर्श से कवि का जीवन धन्यवाद से भर जाता है। वह बार-बार उस अदृष्ट सत्ता के प्रति प्रेम और विश्वास के गीतों में मुखर हो उठता है। क्षुब्ध हृदय को सांत्वना के अमृत से भरने वाले महान् के प्रति मनुष्य श्रद्धांलियाँ तो चढ़ा ही सकता है। इसी से निराला कहते हैं—

भर देते हो
बार बार, प्रिय करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो
मेरे अंतर में आते हो, देव, निरन्तर,

कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कंज बढ़ाकर
अंधकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को
करता है क्षण-क्षण—
कुसुम कपोलों पर वे लोल शिशिर-कण
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नवप्रभात जीवन में भर देते हो

भाव वही है जो वैष्णव कवियों में है, सन्त कवियों में है और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में है, परन्तु निराला की भावना राम-कृष्ण जैसे देवताओं को छोड़ कर नये प्रतीक विधानों के साथ सामने आती है। वास्तव में यह हिंदी साहित्य की आधुनिक रहस्यवाद की धारा वैष्णव-भक्तिधारा का ही एक नया रूप है जो पश्चिमी प्राकृतवाद (Naturalism) और ब्रह्मसमाज के औपनैषदिक रहस्यवाद से प्रभावित है। पश्चिमी प्राकृतवाद वर्ड्स्वर्थ और शैली की कविताओं द्वारा आया और औपनैषदिक रहस्यवाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' 'गीतिमाल्य' आदि संग्रहों की कविताओं द्वारा। इस रहस्यवाद की परंपरा को निर्गुण और सूफ़ी मतवाद में ढूँढना निष्फल है। पाश्चात्य सभ्यता के विकास के साथ भारतीय ईश्वरवाद के प्रतीकों (रामकृष्ण इत्यादि) के प्रति संदेह उठने लगा था। वह ईश्वर के ऊँचे धरातल से उतर कर मानवीय धरातल पर आ गये। इसीलिये साम्प्रदायिक नामरहित सर्वमान्य निर्विशेष ईश्वर की प्रतिष्ठा हुई जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'जीवन-देवता' कहा। हिंदी रहस्यकाव्य में यही 'जीवन देवता' कई नामों से हमारे सामने आता है।

'गीतिका' के गीतों में जीव-ब्रह्म-परक रहस्यवाद अधिक स्पष्ट होकर सामने आया है। अज्ञात, अनंत प्रिय है। आत्मा अभिसारिका

है। यह अभिसारिका लोक में चाहे जितनी लांछित हो, प्रिय के चरणों को छोड़ कर और कहाँ शरण पायेगी ! इसे कवि रूपक में बाँध कर इस तरह कहता है—

मौन रही हार—
प्रिय पथ पर चलती,
सब कहते शृङ्गार !
कण-कण कर कङ्कण, प्रिय,
किण्-किण् रव किङ्किणी,
रनन-रनन नूपुर, उर लाज,
लौट रङ्किणी
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार
शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ ?
उन चरणों को छोड़, और
शरण कहाँ पाऊँ ?
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार
प्रिय पथ पर चलती, कहते सब शृङ्गार !

आत्मा को चिंता है। हार कर प्रिय पथ पर चलना पड़ रहा है। प्रत्येक आभरण से इसी आत्मसमर्पण की ध्वनि आ रही है। हृदय में लाज आती है, परंतु लौट गई तो वह प्रिय धन फिर कहाँ मिलेगा ! फिर संभव है, प्रिय ने आगमन की प्रतीक्षा के बाद नूपुरों का शब्द सुन लिया हो। फिर किसकी शरण मिलेगी ? प्रिय की ओर बढ़ती हुई अभिसारिका (परमात्मा-तत्त्व की ओर बढ़ती हुई जीवात्मा) में यही संवादी स्वर बज रहे हैं, यही तर्क-वितर्क हो रहा है इसी प्रकार एक दूसरे गीत में आत्मा द्वारा परमात्मा के कर्तृत्व की बात है। कवि

कहता है आत्मा का कहना है हे प्रिय, कर्मों के बंधन में पड़ती हूँ मैं करती हूँ मैं और तुम मेरे कर्मों का कुफल सहते हो। यह माना कि मेरा अस्तित्व तुम्हारे बिना संभव भी नहीं है, फिर कर्तृत्व कहाँ संभव है, मेरे सारे कर्मों में तुम ही प्रेरणा-रूप में हो। इसीसे मैं इस सारी लांछा को चुप-चुप सह लेती हूँ। लोग तुम्हें दोष देते हैं, दें। मैं तो सच बात जानती हूँ—

लिखती, सब कहते,
तुम सहते, प्रिय सहते
होते यदि तुम नहीं,
लिखती मैं क्या कहो
पत्रों में तुम हो सर्वत्र
रहोगे रहो
(वे) कहें रहें कहते,
तुम सहते, प्रिय सहते

परंतु कवि यह जानता है कि उस अज्ञात, अनंत, प्रिय को बाहर नहीं ढूँढने जाना है, वह तो भीतर ही है—

पास ही रे हीरे की खान,
खोजता कहाँ और नादान ?

सहसा कर में अज्ञात की वीणा बजने लगती है और हृदय में प्रेम के संस्कार जग जाते हैं। साधक को आश्चर्य होता है, यह क्या हो रहा है—

वह रूप जगा उर में
बजी मधुर वीणा किस सुर में
कहता है कोई, तू उठ अब,
खुले हृदय-शतदल के दल सब,
अर्घ्य चढ़ा उनको जो जब नव

आते हैं तेरे मधुपुर में
वह रूप जगा उर में
अब तक मैं भूली थी क्या, बता,
उनका क्या यही सही है पता
वे ही क्या, मेरे उर की लता
हिल उठती जिन्हें देख उर में
वह रूप जगा उर में

जिस मुरली-ध्वनि को गोपिकाओं ने वृन्दावन में सुना था, वही मुरली-ध्वनि जीवात्मा को जब भीतर-भीतर सुनाई पड़ती है, तब उसके जगत के बन्धन धीरे-धीरे टूटने लगते हैं। अभिसारिका-रूपी जीवात्मा के मन में उस प्रिय के प्रति जिज्ञासा जाग उठती है—

हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी,
लीन स्वर-सलिल में मैं बन रही मीन
स्पष्ट ध्वनि आ धनि, सजी यामिनी भली,
मंद-पद आ बंद कुञ्ज उर की गली,
मंजु, मधु-गुञ्जरित कलि-दल-समासीन
'देख, आरक्त पाटल-पटल खुल गये,
माधवी के खुले गुच्छे नये,
मलिन मन दिवस-निशि, तू क्यों रही क्षीण

इस आश्चर्य-वेणु के बाद प्रिय-मिलन होता है और अंत में प्रिय-वियोग। मिलन के बाद वियोग और वियोग के बाद मिलन, यही साधना की सीढ़ियाँ हैं। मिलन के अंत में जब विछोह के क्षण आते हैं तो आत्मा चीत्कार कर उठती है—

हुआ प्रात, प्रियतम, तुम जावगे चले
कैसी थी रात; बंधु, थे गले-गले

जिस प्रकार कबीर के काव्य में मिलन-वियोग के स्वर उठे हैं, उसी प्रकार के मिलन-वियोग के स्वर निराला के रहस्यवादी काव्य में प्रधानता पाते हैं। अन्तर केवल अनुभूति का है। कबीर अद्वैतावस्था की आनंदस्थिति का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

मोतिया बरसै रौरे देशवा दिन-राती
मुरली-शब्द सुनि मन आनंद भयो, जोति बरै दिन-राती
बिना मूल के कमल प्रगट भया, फुलवा फुलत भाँती-भाँती
जैसे चकोर चंद्रमा चितवैं, जैसे चातक स्वाती

इसे वे विदेह का देश कहते हैं—

हम वासी उस देश के, जहाँ बारह मास विलास
प्रेम झरे विलसैं कमल, तेजपुञ्ज परकास
हम वासी उस देश के, जहवाँ नहिं मास बसन्त
नीझर झरै जहाँ अमी भीजत हैं सब संत
हम वासी उस देश के जहाँ बरन कुल नाहि
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं
हम बासी वा देश के, जहाँ पारब्रह्म का खेल
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल

इस रहस्यमयी अद्वैतस्थिति में—

गगन गरजै बरसै अमी बादल गहर गँभीर
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर

परन्तु इस अद्वैतस्थिति तक पहुँचने के लिए आत्मा को वियोग के दुःख को सहना पड़ता है। इस अभिसार का वर्णन कबीर के काव्य में इस तरह है—

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूँदन
आरती साज कै चली है सुहागिनि
प्रिय अपने को ढूँढन

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय,
समझि सोचि पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय
लोक-लाज, कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय

वियोग के अवसर पर जीवात्मा चिल्ला उठती है—

वै दिन कब आवैंगे माइ

जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ
हौं जानूँ जे हिलिमिलि खेलूँ, तन-मन-प्रान समाइ
यां कामना करौ परिपूरन, समरथ हो रामराइ

और संयोग के अवसर पर प्रियतम के अलौकिक रूप को देखकर वह कहने लगती है—

माई रे अद्भुत रूप अनूप कथो है, कहौ तो को पतियाई
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ साईं सब घट रहा समाई
लख बिनु सुख दुखि बिनु दुख है नींद बिना सुख सोवै
जस बिनु ज्योति रूप बिनु आसिक राम विहूना रोवै

और मिलन के बाद वियोग की संभावना देख कर पुकारती है—

अब तोहि जान न देहूं राम पियारे
ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे ॥टेक॥

आधुनिक रहस्यवादी काव्य में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की सारी परिस्थितियाँ मिल जाती हैं। निराला की गीतिका में ही इस प्रकार के अनेक गीत मिलेंगे जो संसार की सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कविता के सम्मुख रखे जा सकें। प्रसाद ने ठीक ही कहा है—कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिये विभिन्न आधार चुना करती है। निराला के जीव ब्रह्म सम्बन्धी रहस्यवादी गीतों की अस्पष्टता का कारण यह है कि उन्होंने वैष्णवकाव्य के प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया,

नये प्रतीक गढ़े हैं, जो अधिकतः प्रकृति के व्यापारों से लिये गये हैं। जहाँ कहीं उन्होंने पुराने प्रतीक (जैसे पार्वती का शिव के लिये तप) लिये हैं, वहाँ भी उन्होंने पौराणिकता को हटाकर एक नये भाव-संघात की सृष्टि की है। आधुनिक पाठक इन नये प्रतीकों को भली भाँति समझ नहीं पाता, इसीसे वह नये काव्य को 'प्रेतकाव्य' कहने लगता है और या तो उससे भाग जाता है, या उसकी खिल्ली उड़ाता है। कभी तो छायावादी कवि अपने को प्रियतमा मान कर कहता है— 'कबसे मैं पथ देख रही, प्रिय'। और कभी उस अज्ञात सत्ता को नारी रूप में खोज करता है—

कितने बार पुकारा
खोल दो द्वार, बेकारा
मैं बहुत दूर का थका हुआ,
चल दुखकर श्रम-पथ, रुका हुआ,
आश्रय दो आश्रम-वासिनि,
मेरी हो तुम्हीं सहारा

आधुनिक पाठक संबोधन के इन द्विविध रूपों को समझ नहीं सकता। इसी से यह सारा काव्य अस्पष्टता से लांछित जान पड़ता है। इस अस्पष्टता के पीछे कवि का दोष इतना ही है कि वह उतनी अनुभूति की गहराई से नहीं बोल रहा जितनी गहराई हमें जायसी और कबीर की रहस्यवादी कविता ने दी है। उसका प्रयास अधिकतः बौद्धिक प्रयास है, अतः हृदय की रस-धारा से सिक्त न होने के कारण हमें प्राचीन रहस्यवादी काव्य की तरह यह विभोर नहीं कर पाता। अधिक दोष तो नई भाषा की अपूर्णता, नए प्रतीकविधान और विदेशी ढंग की लाक्षणिकता का है। जो हो, आधुनिक रहस्यवादी काव्य में निराला अग्रगण्य हैं।

निराला अद्वैतवादी वेदांती हैं। 'परिमल' की 'जागरण' शीर्षक कविता में हमें उनके अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं। इस कविता में कवि

ने आत्मा की चरमसत्ता में स्थिति को ही सच मानकर उसी के द्वारा सृजन-क्रिया के होने का उल्लेख किया है। मानवी आत्मा को जड़ता घेरे हुए है। वह माया के आवरण से ढकी हुई है। यह जड़ता अथवा मायावरण सत्य नहीं है। यह वास्तव में 'अगणित तरंग रंग'-मात्र है। चिदात्मतत्त्व को हम किसी विशेषता से सीमित नहीं कर सकते। वह गुणों के परे है। वासनाओं अर्थात् मन के विकारों के कारण ही हम अपने चारों ओर जड़ की सृष्टि कर लेते हैं। उनसे अहम् "मैं" की धारणा दृढ़ होती है। तब अज्ञान के कारण हमें सब तरफ भिन्नता और परिवर्तन दीख पड़ते हैं। जड़ इंद्रियों के द्वारा हम स्खलन और पतन को प्राप्त होते हैं। परन्तु यही इंद्रियों का बारम्बार बहिर्गमन हमारे उत्थान का कारण भी हो सकता है। केवल शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता है जिसे प्राप्त करने के बाद जीवात्मा इन आवरणों को भेद कर लक्ष्य तक पहुँचती है। अन्त में उसकी आनन्दमय स्थिति का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

अविचल निज शांति में
क्लांति सब खो गई
डूब गया अहङ्कार
अपने विस्तार में
टूट गये सीमा बंध
छूट गया जड़ पिंड
ग्रहण देश-काल का
निर्वीज हुआ मैं
पाया स्वरूप निज
भक्ति कूर से हुई
नीड़स्थ पक्षी की
तम-विभावरी गई;
विस्तृत अनंत पथ

गगन का मुक्त हुआ
मुक्त पंख उज्ज्वल प्रभात में
ज्योतिर्मय चारों ओर
परिचय सब अपना ही
स्थित मैं आनन्द में चिरकाल
जाल-मुक्त।

आनन्दमय चिदात्मतत्त्व में सृष्टि की इच्छा हुई। उसने त्रिगुणात्मक रूप रचे; फिर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पंचभूत, रूप रस-गंध-स्पर्श विकसित किये। यह इच्छा प्रेम का एक रूप थी। उसमें ज्ञान का आकर्षण था, मोह नहीं था। उसने अपनी माया का प्रसार किया परन्तु प्रेम के रूप में, छलना के रूप में नहीं—

ज्योति वह दिखाती थी
संचालित करती थी उसी की ओर

इस प्रकार कवि यह बताना चाहता है कि माया असत्य है, यदि उसे किसी हद तक सच भी माना जाय तो वह आनन्द की अभिव्यक्ति ही है जो प्रेम का रूप धारण किये है। हमारे मन ने उसे विकृत रूप से ही ग्रहण किया। माया का शुद्धरूप, प्रेम-रूप समझने पर 'सोऽहम्' 'आवास्यमिदम्' 'तत्त्वमसि' मन्त्रों द्वारा एकत्व में बहुत्व के विश्लेषण की बात समझ लेने पर परमाणुओं के प्रतिघातों से बचा जा सकता है।

कवि ने किस दार्शनिक सिद्धांत का सहारा लिया है, यह बात समझने के लिए यह कविता महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ हमें वे सब विचार मिलते हैं जिन्होंने उसकी रचनाओं के एक बड़े अंश में कवित्वपूर्ण रूप प्राप्त किया। इसी कविता में निराला ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में एक दूसरा दृष्टिकोण रखा है—"शब्दज संसार यह"। 'गीतिका' की भूमिका में एवं अन्य गीतों में इस विचार की पुष्टि हुई है।

'परिमल' और 'गीतिका' की कविताओं के अध्ययन से पाठक इस सिद्धांत पर पहुँचता है कि निराला वेदांती हैं परन्तु उनका 'वेदांत' या अद्वैतवाद विशुद्ध नहीं रह सका है। उसमें भक्ति की भावना मिल गई है। विशुद्ध वेदांत-ज्ञान कविता का विषय नहीं हो सकता। इसमें भक्ति-वाद [प्रेम-भावना] का भी सम्मिश्रण है। निराला का सारा काव्य ही अद्वैत भक्ति दर्शन से प्रभावित एवं संचालित है। वे प्रकृति और परमसत्ता में अद्वैतता मानते हैं। परन्तु उनका दर्शन ज्ञानमूलक होने के कारण महादेवी या जायसी की तरह वह प्रकृति—परमात्मा को एकात्म नहीं कर पाते, भिन्नता का मान बना रहता है।

प्रकृति के विषय में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखने के कारण ऐसे कवियों के प्रकृति के चित्रण में कई प्रकार की विशेषताएँ आ जाती हैं। एक तो कवि प्रकृति का यथार्थ-वर्णन नहीं कर सकता। उसके रंग साधारण रङ्ग से कहीं गहरे होते हैं। उसके लिए पवन में जैसे केसर फुला है। एक प्रकार से उसकी इन्द्रियाँ सूक्ष्मतम हो जाती हैं और उसकी इन्द्रियों के विषय में विपर्यय हो सकता है। वह रङ्गों को सुनता है और स्वरों को देखता है। उसका प्रकृति-चित्रण प्रकृति के व्यापारों को बढ़ा-चढ़ा देता है, या उनमें उलट-पुलट कर देता है। जायसी सिंहलदीप के सरोवर का वर्णन करता है—

फूले कुमुद संत उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे
उतरहि मेव चढ़हि लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी
धैरहिं पंख सुसंगहि संगा। सेत पीत राते बहु रंगा

नग अमोल तेहि तालहिं दिनहिं बरहिं जस दीप
सो मरजिया होइ तहँ सो पावै वह सीप

दूसरे उसके प्रकृति-वर्णन में आत्मीयता होती है। उसका दृष्टिकोण पूर्णरूप से आत्मव्यंजक होता है, पर व्यंजक नहीं। वह प्रकृति का

वस्तु-वर्णन नहीं करता। प्रकृति उसे प्रियतम के रूप में या परोक्ष सत्ता के प्रतिबिंब के रूप में दिखलाई पड़ती है। जायसी के ऋतु वर्णन में यही दृष्टिकोण है। उसमें कवि जैसे प्रकृति की विरहाकुल आत्मा की पीड़ा का ही अनुभव करने लगा है। तीसरे, वह विराट और विशाल प्रकृति से अधिक निकट होता है। वह भौतिक सीमा से कहीं ऊँचा उठकर प्रकृति के भीतर से एक चरम सत्य या चरम सौन्दर्य तक पहुँचता है। अद्वैतवादी ज्ञानी का दृष्टिकोण कुछ अंशों में इससे भिन्न है। वह चाहे तो प्रकृति को बाहर से भी देख सकता है। विशेष-कर यदि वह साधना के ऊँचे स्तर पर गई है। उच्च स्तर पर पहुँचने पर उसमें और रहस्यवादी में कोई अंतर नहीं रहता।

निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी कवि के दृष्टि-कोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। इस दृष्टिकोण को हम उनकी 'जुही की कली' शीर्षक कविता में पूर्णरूप से विकसित पाते हैं। पवन व्यापक है। वह असीम का प्रतीक है। जुही की कली ससीम है—आत्मा का रूपक, वृत मोह का है। विराट को क्षुद्र के प्रति कितनी आसक्ति है। उसी के फलस्वरूप आत्मा की मुक्ति होती है। विराट से एक बार साक्षात होते ही क्षुद्र विराट होकर उसमें मिल जाता है—

हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी—खिली—
खेल रंग, प्यारे संग

एक दूसरी कविता शैफालिका में शैफाली वासकसज्जा है। प्रेमी गगन (अनंत का सूचक) उसके लिये शिशिर के चुम्बन भेजता है, शोक-जर्जर इस नश्वर संसार की क्षुद्र सीमा को पार कर प्रियालिंगन में प्रेमिका आध्यात्मिक विकास की सबसे ऊँची सीमा तक (अमर विराम के

अंतिम सोपान पर) पहुँच जाती है। इस मिलन के फलस्वरूप वह भव बंधन से मुक्त होती है। कहती है—

पाती अमर प्रेमदान
आशा की प्यास एक रात में भर धाती है
सुबह को आलो शैफाली झर जाती है

शैफाली का झर जाना, आत्मा का पृथ्वी के विकार से संबन्ध को छोड़ देना ही मनुष्य के ईश्वर-प्रेम की परिणिति है।

कुछ कविताओं में प्रकृति परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये—पूर्ण विकास के लिए—तप करती है। "सोचती अपलक आप खड़ी।" और "सूखी ही यह डाल वसनवासंती लेगी" शीर्षक कविताओं में यही दृष्टिकोण विकसित हुआ है। फलस्वरूप प्रकृति में जो वसंत है, वह प्रियमिलन की सूचना है—

अमरण भर वरण गान
बन बन उपवन-उपवन
जागी छवि, खुले प्राण
वसन विमल तनु बलकल
पृथु-उर सुर पल्लव-दल
उज्ज्वल दृग कलिकल पल
निश्चल, कर रही ध्यान

प्रकृति के प्रति निराला का एक और दृष्टिकोण भी है। जब वे प्रकृति में परमात्मतत्त्व का अनुभव करने लगते हैं तब प्रकृति का अपरोक्ष रूप अधिक स्पष्ट होकर निखरने लगता है और एक सुन्दर स्त्री रूप में उसकी कल्पना मूर्ति सामने आती है। यही वास्तव में शुद्ध वेदांती दृष्टिकोण है जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष में कोई भेद नहीं।

'गीतिका' (१९३६) के बाद निराला जी के कुछ और रहस्यवादी

गीत 'अणिमा' (१६४३) में मिलते हैं। एक सुन्दर रहस्यवादी गीत है—

सुन्दर हे, सुन्दर
दर्शन से जीवन पर
बरसे अनश्वर स्वर
परसे ज्यों प्राण,
फूट पड़ा सहज गान,
तान सुरसरिता बही
तुम्हारे मंगल पद छूकर
उठी है तरंग,
बहा जीवन निस्संग,
चला तुम से मिलने को
खिलने को फिर फिर भर-भर

कुछ गीतों पर रवीन्द्र-काव्य की छाया स्पष्ट है—

मैं बैठा था पथ पर
तुम आये चढ़ रथ पर
हँसे किरण फूट पड़ी,
टूटी जुड़ गई कड़ी,
भूल गये पहर-घड़ी
आई इति अथ पर
उतरे, बढ़ गही बाँह,
पहले की पड़ी छाँह,
शीतल हो गई देह,
बीती अकथ पर

'बेला' (१९४३) के कुछ गीतों में भी यह रहस्यवादी परंपरा अक्षुण्ण बनी रहती है। कवि उस दिव्य मिलन की बात कहता है—

नाथ तुमने गहा हाथ, वीणा बजी,
विश्व यह हो गया साथ, द्विविधा लजी
खुल गये डाल के फूल; रँग गये मुख
विहग के धूल युग को हुई विमल सुख
शरण में मरण का मिट गया महा दुख
मिला आनन्द पथ पाथ; संसृति जगी

कभी उस प्रिय की बीन सुनकर रहस्यानुभूति से भर जाता है—

बीन की झंकार कैसी बन गई मन में हमारे
धुल गईं आँखें जगत की खुल गये रवि-चंद्र-तारे
शरत के पंकज सरोवर के हृदय के भाव जैसे
खिल गये हैं पंक से उठकर विमल विश्राव जैसे
गंधस्वर पीकर दिगन्तों से भ्रमर उन्मद पधारे

कभी उस मिलन के आनन्द पर मुग्ध हो जाता है—

शुभ्र आनन्द आकाश पर छा गया
रवि गा गया किरण गीत
श्वेत शतदल कमल के अमल खुल गये
विहग-कल-कण्ठ उपवीत
चरण की ध्वनि सुनी

कभी कबीर की तरह उस मिलन-सुख को प्राकृतिक रूपों के सहारे कह डालना चाहता है—

कैसे गाते हो ?
मेरे प्राणों में आते हो जाते हो
स्वर के छा जाते हैं बादल
गरज गरज उठते हैं प्रतिपल
तानों की बिजली के मंडल
जगतीतल को दिखलाते हो

ढ़ह जाते हैं शिखर, शिखरतल;
बह जाते हैं तरु-तृण, बल्कल;
भर जाते हैं जल के कलकल;
ऐसे भी तुम बल खाते हो

कभी उस अज्ञात प्रिय के नयनों की कृपाकोर के संजीवन अमृतत्व की बात करता है—

प्रभु के नयनों से निकले कर
ज्योति के सहस्रों कोमल शर
हर गये धरा के व्याध शत्रु
बह चली अमृत जल की शतद्रु
जीवन के मरु का छाया तरु
लहराया, उत्कल-जल निर्झर

इस परवर्ती सग्रहों में रहस्यवादी गीत छोड़े हैं, परन्तु उनकी विचार धारा के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं। अधिकांश रहस्यवादी गीत दूसरे अन्तरे तक पहुँचते पहुँचते शिथिल हो गये हैं। पता नहीं चलता, कवि क्या कहता है। धीरे-धीरे यह अस्पष्टता बढ़ती जाती है और कवि शब्दों और भावों के जाल में खो जाता है।

जो हो, इसमें सदेह नहीं कि निराला का रहस्यवादी काव्य आधुनिक रहस्यवादी काव्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसमें जो थोड़ी अस्पष्टता और भाव क्लिष्टता है, वह कवि के दार्शनिक चिन्तन के कारण है। आधुनिक रहस्यवाद केवल मात्र हृदय की उपज नहीं है। उसके पीछे उसके प्रणेताओं का शास्त्रीय अध्ययन है। साधना का बन्द उसमें अधिक नहीं है! परंतु कल्पना, कवित्व शक्ति और कला के योग से इस काव्य में एक नई चेतनता आ जाती है, इसमें संदेह नहीं। इस 'रहस्यवाद' के कारण साधारण जनता में आधुनिक काव्य

लांछित हुआ है, परंतु फिर भी आधुनिक हिन्दी कविता को उस पर गर्व ही करना पड़ेगा।

(५) पंत का रहस्यवादी काव्य

पंत प्रधानतयः प्रकृति, सौन्दर्य और संगीत के कवि हैं। जीव-ब्रह्म के पचड़े में वह बहुत नहीं पड़े, यद्यपि उनका दर्शनशास्त्र का अध्ययन गहरा है और उनकी उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं पर भी उनकी दार्शनिक चिंतनाओं की छाप पड़ी है।

'वीणा' और 'पल्लव' में हमें पंत की कुछ ऐसी रचनाओं के दर्शन होते हैं जिन्हें हम कुछ दूर तक 'रहस्यवादी' कह सकते हैं। उनके इस रहस्यवाद के कई पक्ष हैं। या तो वे विवेकानन्द की काव्य प्रतिभा से प्रभावित होकर बंगला के जननी-वाद (Mohter cult) को हिन्दी में ले आते हैं जैसे—

१ करुणा कुन्दन करने दो
अविरल-स्नेह-अश्रु जल से मा
मुझको मतिमल धोने दो

२ तुहिन-बिन्दु बन कर सुन्दर
कुमुद किरण से सहज उतर
माँ, मेरे प्रिय पद-पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ

विश्व में एक महान शक्तिशाली मातृत्व की कल्पना करते हुए वे कहते हैं—

मा! वह दिन कब आयेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगी
जिसका यह प्रतिबिंब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पन में

यह 'मा' की कल्पना अद्वैतियों की ब्रह्म की कल्पना से भिन्न नहीं है।

इस सृष्टि के सारे रहस्यों के पीछे वही एक शक्ति है जिसे जानकर ही हम सब जान पाते है—

"वैसे ही तेरा संसार
अति अपार यह पारावार
नहीं खोलता है मा! अपने
अद्भुत रत्नों का भण्डार ;
प्रत्युत, अपन ही शृङ्गार
(तुलसी माला, या मणिहार)
मा! प्रतिबिंबित होकर इसमें
दिखलाई देते निस्सार!
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल को हिला अपार
दिखलाई देगी तब इसकी
विश्वमूर्ति अति सत्य उदार!

यह संसार इसी मा (शक्ति) का प्रतिबिंब है—

मा! वह दिन कब आयेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिंब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पण में

परंतु पंत के रहस्यवाद का एक अङ्ग प्राकृत रहस्यवाद भी है। वह प्रकृति के वैभव से बालक की भाँति आश्चर्यचकित हैं और उसके पीछे एक जीवित, जाग्रत, स्पंदित अतीन्द्रिय सत्ता की कल्पना करते हैं—

छवि की चपल अँगुलियों से छू
मेरे हृत्तन्त्री के तार
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार!

इस विश्व के सायं-प्रात कवि को अतीव रहस्यमय दिखलाई पड़ते हैं। उसे लगता है जैसा यह सारा प्राकृतिक वैभव, यह सारा आकर्षण एक मात्र उसी के लिए है—

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुञ्जार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन

यह जीवन स्वयं उसे एक रहस्यमय उलझन लगता है—

अहे विश्व! ऐ विश्व-व्यथित-मन!
किधर बह रहा है यह जीवन?
यह लघु-पोत, पात, तृण, रजकण,
अस्थिर भीरु वितान,
किधर, किस ओर, अछोर अजान
डोलता है यह जीवन-यान

'गुंजन' की कविताओं में यह रहस्यभावना और भी गहरी होगई है परन्तु उसने दार्शनिकता का रूप ग्रहण कर लिया है। यह संसार उसे एक रहस्यमय इच्छा के सूत्र पर कठपुतली की तरह नाचता दिखलाई देता है—

अविरत-इच्छा ही में नर्तन
करते अबाध रवि, शशि, उडुगण
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन

इस इच्छा के बधंन से छुटकारा मिलना तभी संभव है जब मनुष्य सुख-दुख से ऊपर उठकर शाश्वत जीवन के साथ अपने जीवन को एकात्म कर दे। कवि कहता है—

अस्थिर है जग का सुख दुख

जीवन ही नित्य, चिरन्तन
सुख दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलंबन

वह जीवन के कर्णधार से प्रार्थना करता है कि वह शाश्वतजीवन के अगाध समुद्र में नौकाविहार कर सके—

हे जग जीवन के कर्णधार,
चिर जन्म मरण के आरपार
शाश्वत जीवन - नौका विहार

अंत में वह साधना के पथ को पकड़ता है परन्तु यह साधना केवल सक्रिय भाव से प्रकृति और जीवन के साथ एकात्म हो जाना माना है। यह बुद् बुद की तरह जल में लीन होकर जल का रहस्य पा लेना है—

कँप कँप हिलोर रह जाती
रे मिलता नहीं किनारा
बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा

जिस कविने पल्लव में 'परिवर्तन' की अत्यन्त रहस्यवादी कल्पना की थी—

अहे महाम्बुधि ! लहरों से शत लोक चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर,
तुंग तरंगों से शत युग, शतशत कल्पान्तर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण
जलते बुझते हैं स्फुलिंग से, तुम में तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन

वही कवि, गुंजन' में आकर इस परिवर्तन के पीछे की एक शाश्वत, निःस्पृह, निर्विकार सत्ता की अनुभूति प्राप्त करता है। 'ज्योत्स्ना' का एक गीत है—

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय
चिन्मय प्रकाश में विकसित लय

× × ×

चिर महानन्द के पुलकों से
झर-झर नित अगणित लोक-नियम
नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत-शत सौर-चक्र-निमेय

इस चिन्तमय प्रकाश के महान सागर में मनुष्य की सत्ता लहरों की भाँति है। जिस प्रकार जल के स्पंदन मात्र से लहर का अस्तित्व है, उसी प्रकार यह मानव जीवन इस विराट चिन्मय प्रकाश-सागर की हिल्लोल मात्र है—न जाने किस निरावधि, निराला अतीत में यह हिल्लोल उठी थी, न जाने किस अनागत भविष्य में यह फिर उसी प्रकाशपुंज में लय हो जायेगी। बार-बार 'अस्ति' और 'नास्ति' का यह खेल ही अनादि काल से मनुष्य को जिज्ञासा और रहस्य का विषय बना है—

अपने ही सुख से चिर-चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल
चिर जन्म-मरण को हँस हँस कर
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर फिर असीम से उठ उठ कर
फिर फिर असीम में हो ओझल

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काव्य में रहस्यवाद की धारा ने एक नया ही रूप ग्रहण कर लिया। उसमें जीव-ब्रह्म के अनन्य सम्बन्ध

मात्र की जिज्ञासा और अनुभूति ही नहीं है, उसमें आश्चर्य, आनन्द रहस्यमयता के अनेक सूत्र फैले हुए हैं जो जीवन, प्रकृति और चेतनता को अनेक प्रकार से संबंधित किये हैं। पंत की कविता में जीव-ब्रह्म की उस प्रकार की जिज्ञासा नहीं मिलेगी जो निराला, महादेवी और रामकुमार के काव्य का विषय है। उनकी रहस्यवाद की भित्ति है एक व्यापक आश्चर्य और रहस्य की भावना (Spirit of wonder) जो उनके काव्य में ओत-प्रोत है। प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य, बालक और छोटे-बड़े जीवों के प्रति एक विशेष आश्चर्य और रहस्य की दृष्टि से कवि ने देखा है। जहाँ तक हो सका है, उसने इनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहा है। वह इसमें सफल भी हुआ है। इसी विराट आश्चर्य-रहस्य भावना ने पंत के काव्य के वर्ण्य विषयों कोमहत्ता प्रदान की है। कवि संसार की जिस वस्तु को छूता है, वह नये प्रकाश और नई छाया से ढक जाती है। यह जगत और जीवन कवि के लिये सहस्रशः आश्चर्यों का भंडार है! वह कहता है—

गुँथ गये अजान तिमिर-प्रकाश
दे दे जग जीवन को विकास,
बहु रूप-रंग-रेखाओं में
भर विरह-मिलन का अश्रुहास

उसका हृदय एक महान मंगल कामना से भर जाता है। विश्व की अपूर्णताएँ उसे खलने लगती है। वह गा उठता है—

छवि के नव बंधन बाँधो
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गंध कुसुम में, स्मिति अधरों में,
जीवन की तमिस्र वेणी में
निज प्रकाश-कण बाँधो

सारे जीवन के प्रति ही वह मंगलाशी हो जाता है—

मंगल चिर - मंगल हो
मंगल मय सचराचर
मंगल मय दिशि - पल हो।
तमस - मूढ़ हों भास्वर,
पतित - क्षुद्र, उच्च अजर,
मृत्यु भीत नित्य अमर
अगजग चिर उज्ज्वल हो

संसार की अपूर्णता के ऊपर वह एक महान सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पूर्णता का संदेश देता है—

मानव - जग में गिरि-कारासी
गत-युग की संस्कृतियाँ दुर्धर
बन्दी की हैं मानवता को
रच देश-जाति की भित्ति अमर
ये डूबेंगी— सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकास,
हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह
छू मानव- आत्मा का प्रकाश

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत के काव्य में रहस्यवाद के अर्थों का विकास हुआ है और जीवन, जगत और उसमें व्याप्त चिन्मय शक्ति को नए प्रकार से देखने की दृष्टि हमें मिली है। उनकी अनेक गुत्थियाँ और अभिव्यजना की स्पष्टताएँ उनके काव्य में नहीं हैं। कवि के लिए सौन्दर्य की साधना विराट अनन्त से तादात्म्य प्राप्त करने की एक मात्र साधना रह गई है। कण-कण में व्याप्त सौन्दर्य ही उसके लिए प्रियतम का पद चिह्न है।

(६) महादेवी वर्मा का रहस्यवादी काव्य

आधुनिक कवियों में रहस्यवाद की सब से अधिक और सब से

पूर्ण व्यंजना महादेवी वर्मा के काव्य में हुई है। प्रारंभिक कुछ रचनाओं में उन्होंने अनेक विषय अपनाये हैं परन्तु उनकी परवर्ती सारी कविताओं का एक ही विषय है—एक अनन्त, अज्ञात चित्सत्ता की उपस्थिति का अनुभव और उसके प्रति मिलन-विरह का भाव। अपनी संकल्पनात्मक अनुभूति के सहारे उन्होंने विरह-मिलन के इस भाव को अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने रखा है। अपने रहस्यगीतों के सम्बन्ध में कवित्रीजी स्वयम् कहती हैं—"रहस्यगीतों का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है। पर वह, साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियों में इस प्रकार घुलमिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोकसामान्य हो गई। भावों के अनन्त वैभव के साथ ज्ञान का अखण्ड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, कहीं रंगीन, कहीं सितासित, कहीं सघन, कहीं हल्के, कहीं चाँदनी-धौत और कहीं अश्रुस्नात बादलों में छाये आकाश की होती है। व्यक्ति अपना दृष्टि को उस अनन्त रूपकात्मकता के किसी भी खण्ड पर ठहरा कर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अतः आनन्द और विषाद को मर्मानुभूति के साथ-साथ उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का भी स्पर्श मिलता रहता है। पर ऐसे गीतों में निर्गुण हवन और सगुण अनुभूति का जैसा संतुलन अपेक्षित है, वैसा अन्य गीतों में आवश्यक नहीं, क्योंकि आधार यदि बहुत प्रत्यक्ष हो उठे तो बुद्धि उसे अपनी परिधि से बाहर न जाने देगी और भाव यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे तो हृदय उसे अपनी सीमा में रख सकेगा। रहस्यगीतों में आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुचते हैं।

सगुणोन्मुख गीतों में सत्-चित् की रूप प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनंद की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है इसीसे कवि को बहुत अंतर्मुख नहीं होना पड़ता। वह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुँचने

का मार्ग पा लेता है। सगुण गायक अनेक रंग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रंगता है, अतः वह निर्गुण गायक से भिन्न रहेगा जिसके पास एक और चित्रपट शून्य असीम है। एक की निपुणता रंगों के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर है और दूसरे की रेखाओं की चिर नवीन अनन्तता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अलौकिकता वैसे ही बँधी रहेगी जैसे दीप की लौ से आलोकमण्डल और यदि रहस्य द्रष्टा तन्मय आत्मनिवेदक है तो उसके गीत की अलौकिक असीमता में, लौकिक सीमायें वैसे ही फूटती रहेंगी जैसे अनन्त समुद्र में हिलोरें।' ('दीपशिखा' की भूमिका, पृष्ठ इक्कीस)। ऊपर जो अवतरण दिया है उसमें सगुण और निर्गुण रहस्यवाद के भेद और उनके प्रकाशन के ढंग के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

महादेवी वर्मा सगुण की उपासिका नहीं हैं। उनका रहस्यवाद निर्गुण-अनुभूति पर आश्रित है, अतः जन-साधारण के लिए थोड़ा अस्पष्ट भी है। नीरजा (१९३५) में पहली बार हम उनमें रहस्यवादी प्रवृत्ति का पूर्ण उन्मेष पाते हैं। 'नीरजा' की भूमिका में श्री रायकृष्ण दास ने लिखा है—"उनकी (महादेवी वर्मा की) काव्य-साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है। कवि की आत्मा मानों इस विश्व से बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का अनुसरण करती है। उसकी दृष्टि से, विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त, अलौकिक चिर सुन्दर की छाया-मात्र है।'

'नीरजा' का पहला गीत इस प्रकार है—

प्रिय इन नयनों का अश्रु-नीर
दुख से आविल सुख से पंकिल;
बुदबुद से स्वप्नों से फेनिल;
बहता है युग-युग से अधीर

जीवन-पथ का दुर्गमतम तल;
अपनी गति से कर सजल सरल;
शीतल करता युग तृषितनीर
उसमें उपजा यह नीरज सित;
कोमल कोमल लज्जित मीलित;
सौरभ सी लेकर मधुर पीर
इसमें न पंक का चिन्ह शेष,
इसमें न ठहरता सलिल लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर
तेरे करुणा-कण में विलसित;
हो तेरी चितवन से विकसित,
छू तेरी श्वासों का समीर

इस पहले गीत से ही महादेवी का दर्शन स्पष्ट हो जाता है। वे आत्मा को प्रोषितपतिका के रूप में पाती हैं। सहसा उन्हें एक पारलौकिक संबन्ध का आभास होने लगता है और उनका हृदय एक प्रकार की टीस से क्रंन्दन करने लगता है। उनके दर्शन को वास्तव में उसी अर्थ में दर्शन कहा जा सकता है जिस अर्थ में हम रहस्यवाद को दर्शन कहेंगे। सच तो यह है कि कुछ दार्शनिक अनुभव-ज्ञान, साक्षात्कार या संतों की परिभाषा में सहजज्ञान द्वारा सत्य की प्राप्ति को दर्शन का विषय नहीं मानते। वे पृथ्वी से अधिक निकट रहने में ही अपनी रक्षा समझते हैं। उनका एक मात्र साधन है तर्क, परन्तु रहस्यवादी का ज्ञान दूसरे प्रकार का ज्ञान है। उसकी साधना की धारा विपरीत है। पहला समष्टि से व्यष्टि की ओर जाता है, दूसरा व्यष्टि के समष्टि की ओर। रहस्यवादी की आँख एक दिन प्रभात में खुल पड़ती है और तब उसे समष्टि दिखलाई ही नहीं पड़ती। एक ही व्यक्ति जैसे, एक ही भाव जैसे उसकी पुतलियों में समा गया हो। वह संसार में अकेलेपन का अनुभव करता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रेम-प्रतीकों में अव्यक्त

व्यक्त, परात्म-आत्म, पूर्ण-अपूर्ण या असीम-ससीम का एक पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्येक युग के रहस्यवादियों के गान का विषय रहा है। ऊपर के गीत से यह प्रगट है कि चरम तत्व और आत्मतत्व का अनन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यह प्रकृति न जाने कब से परमात्मा से विलग हुई है, परन्तु उसे इस अलगाव का दुःख है। उसके और परमात्मा के बीच में इस दुःख के द्वारा एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है! युग-युग से यह संबन्ध चला आता है। मानवी आत्मा इस दुःख-स्रोत के भीतर से कमल के रूप में प्रगट होकर जल के ऊपर उठती है। कदाचित् प्रकृति के इस दुःख से ही उसकी उत्पत्ति हुई है। उसमें इसी पारलौकिक पीर का सारभ है। तत्त्वरूप में यह आत्मा निर्विकार है, निष्काम है। उसे केवल एक बार इस पारलौकिक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाय और अव्यक्त की एक झलक या मुस्कान दीख पड़े और वह अपनी सारी पूर्णता में खिल जायेगी।

अपने अलौकिक शब्दों में जीवात्मा इन प्राकृतिक सीमाओं से ऊपर उठकर अनन्त असीम के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है और उसकी महानता में अपने को महान समझ कर गर्वीली हो उठती है—

> **झरते नित लोचन मेरे हों**
> **जलती जो युग-युग से उज्ज्वल**
> **आभा से रच-रच मुक्ताहल;**
> **वह तारक - माला उनकी**
> **चल विद्युत के कण मेरे हों**
> **झरते निज लोचन मेरे हों**

ये दुख के आँसू नहीं, उस अनन्त असीम शक्ति के प्रति कृतज्ञता के आँसू हैं। तब प्रकृति का सारा व्यापार इस अनन्त अज्ञात की ओर इंगित करता दिखलाई देता है। साधक चिल्ला उठता है—

लाये कौन सँदेश नये घन

जीवन के दुख-सुख उसे शूल-फूल की तरह एक समान प्रिय हो जाते हैं। वह गाता है—

मधुबेला है आज
अरे तू जीवन - पाटल फूल
आई दुख की रात मोतियों की देने जयमाल
सुख की मंद बतास खोलती पलकें दे दे ताल
डर मत रे सुकुमार
तुझे दुलराने आये शूल
अरे तू जीवन-पाटल फूल

अपना दुखसुख उसे नया नहीं मालूम पड़ता। यह दुख-सुख,असीम-ससीम का यह मिलन-वियोग, यह तो शाश्वत कहानी है—

क्या नई मेरी कहानी
विश्व का कण-कण सुनाता
प्रिय वही गाथा पुरानी

अपने उदात्त क्षणों में विरह की गैल चलती हुई आत्मा को यह दुःख का पथ परिचित जान पड़ता है। अपने बंधन, अपने दुःख, अपने क्रन्दन सब उसे प्रिय हो जाते हैं—

है युगों का मूक परिचय
देश से इस राह से;
हो गई सुरभित यहाँ की
रेणु मेरी चाह से

यद्यपि दुख के क्षण में आत्मा चीत्कार कर उठती है—तेरी सुधि बिन क्षण-क्षण सूना! परन्तु उसके अपने सुख के क्षण भी आते हैं जब वह चिल्ला उठती है—

सखि, मैं हूँ अमर सुहाग भरी
प्रिय के अनंत अनुराग - भरी

तब उसके रोम-रोम से यही आशा-ध्वनि निकलती है—

आज सुनहली बेला

सहसा उस अज्ञात प्रिय का अत्यंत नैकट्य का अनुभव उसे होता है। वह कहती है—

तंद्रिल निशीथ में ले आये
गायक तुम अपनी अमर बीन
प्राणों में भरने स्वर नवीन
तममय दुस्तरमय कोने में
छोड़ा जब दीपक राग एक,
प्राणों प्राणों के मंदिर में
जल उठे बुझे दीपक अनेक
तेरे गीतों के पंखों पर उड़ चले विश्व के स्वप्न-द्वीप
तंद्रिल निशीथ में ले आये
गायक तुम अपनी अमर बीन।

यह संकल्पात्मक विरह-मिलन, आत्मा का रुदन-हास रहस्यवादी काव्य की मधुरतम सम्पत्ति है और महादेवी के काव्य में इस सम्पत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। कबीर, मीरा और सूर की गोपियों की विरह-मिलन की अनुभूति नई भाषा में, नई अर्थ-व्यंजना के साथ, नए प्रतीकों में बँधी हमें इन गीतों में मिलती है।

निर्गुण रहस्यवादी कवियों की भाँति महादेवी भी उस अनन्त का क्रीड़ा-स्थान यह मानव-जीवन ही मानती हैं। साधक का अंग-अंग ही तो उसकी मधुरता, उसकी सुन्दरता को व्यंजित करता है। उसे पाने के लिये अपने से बाहर उसे कहीं जाना नहीं है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे
उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनंदन रे
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जलकरण रे
अक्षत पुलकित रोम-मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे
मेरे दृग के तारों में नव उत्पल का उन्मीलन रे
धूप बने उड़ते जाते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे.

निर्गुणियों के देह में परमात्मा को देखते हैं, उनसे यह भावना भिन्न नहीं है।

महादेवी वर्मा के कितने ही रहस्यगातों में इस साधनापथ की अलौकिकता, साधक के संतोष और उसके दुखों-सुखों की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। रविबाबू के रहस्यगीत भिन्न श्रेणी के हैं और हमारी निर्गुण रहस्यवादी परम्परा के अधिक निकट पड़ते हैं। इनका कलाकौशल, इनकी लय-ध्वनि, इनका स्वर-माधुर्य तो इतना अनोखा है कि इनके अधखुले, अधमुँदे अर्थ भी स्पष्ट हुये बिना नहीं रहते। साधना-पथ की मधुरिमा देखिये—

हुए शूल अक्षत मुझे, धूलि चन्दन
अगरु-धूम सी साँस सुधि-गंध-सुरभित
बनी स्नेह-लौ आरती चिर अकम्पित
हुआ नयन का नीर अभिषेक जल-कन
सुनहले सजीले रँगीले धवीले
हसित कटंकित अश्रु-मकरंद गीले
बिखरते रहे स्वप्न के फूल अनगिन

अलौकिक मिलन-वियोग की यह कथा बराबर चलती रहती है, शेष ही

नहीं हो पाती—

फिर चलीं पलकें तुम्हारी पर कथा है शेष
अतल सागर के शयन से
स्वप्न के मुक्ता-चयन से
विकल कर तन
चपल कर मन
किरण-अंगुलि का मुझे लाया बुला निर्देश

इस मिलन-वियोग के पथ पर चलते हुए आत्मा को जैसे सब कुछ परिचित-सा लगता है—कहीं कोई बाधा नहीं, कहीं कोई अपरिचितपन नहीं। वह कह उठती है—

मैं न यह पथ जानती री
धूम हों विद्युत शिलायें
अश्रु हों गल तारिकायें
छा भले ले आज अगजग वेदना की घन-घटाएँ
सिहरता मेरा न लघु उर,
काँपते पग भी न मृदुतर,
सुरभि मैं पथ में सलोने स्वजन की पहचानती

वास्तव में यह पथ, यह साधना ही इतनी आकर्षक है कि यही साधन ही साध्य बन जाते हैं—

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
रुदन में सुख की कथा है,
विरह मिलने की प्रथा है,
शलभ जल कर दीप बन जाता निशा के शेष में
आँसुओं के देश में

प्राचीन रहस्यवादी कवियों और इन नये रहस्यवादी कवियों की अनु-

भूति में अंतर यही है कि जहाँ प्राचीन कवि की अनुभूति मूलतः आध्यात्मिक है और उसकी स्वसंवेद्य साधना से पुष्ट है, वहाँ आज के कवि की अनुभूति मूलतः बौद्धिक है। उसके पीछे कल्पनात्मक विलास और कला का बल भले हो, वह हमें उतनी दूर तक आत्म-विभोर नहीं कर सकती। जैसा महादेवी वर्मा ने कहा है—छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि के जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों को मिलाकर एक ऐसी काव्यसृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद इत्यादि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।" स्पष्ट है कि आधुनिक रहस्यवाद में जहाँ बुद्धिवाद का सहारा लेकर जीवब्रह्म के एकात्म की घोषणा की गई है, वहाँ जीवन की अखण्डता, प्रकृति में व्याप्त सौन्दर्य की रहस्यमय अनुभूति और प्रेमकी अखण्डित, सर्वाग्राही, अलौकिक कल्पना को भी स्थान मिला है। आधुनिक रहस्यवाद अध्यात्म पर ही समाप्त नहीं हो जाता।

(७) रामकुमारवर्मा का रहस्यवादी काव्य

डा० रामकुमार वर्मा के रहस्यवाद के अध्ययन के लिए उनके तीन संग्रह संकेत (१९३९), चंद्रकिरण (१९३७) और चित्ररेखा (१९३५) महत्वपूर्ण हैं। इन कविता-सग्रहों में कुछ कविताएँ ऐसी हैं जिनमें कवि ने एक सार्वभौम करुणा की कल्पना की है और एक सर्वमुखी चेतना के प्रति आत्मसमर्पण के गीत गाये हैं। महादेवी वर्मा के आध्यात्मिक क्षेत्र से कवि का आध्यात्मिक क्षेत्र भिन्न नहीं है, परंतु उसमें संकल्पनात्मक अनुभूति की मात्रा उतनी नहीं, अतः भावों में अस्पष्टता की मात्रा अधिक है। ससीम और असीम के अनिवार्य

सम्बन्ध को कवि ने कहीं-कहीं बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है—

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ
तुम मुझमें होना ओ अनूप
राका-शशि अपनी रश्मि माल
जब रजनी को पहनाता हो
अथवा जब फूलों के तन से
प्रेयसि सुगंध का नाता हो
जब विमल ऊर्मि में लघु बुद्बुद्
उल्लास पीन लहराता हो
जब तरु से लतिका का अंतर
मधुऋतु में कम हो जाता हो
उस समय हँसो तो बरस पड़े
कण-कण में विश्वों का स्वरूप
मैं तुममें प्रतिबिंबित होऊँ
तुम तुझमें होना, ओ अनूप

एक अन्य स्थान पर इसी सम्बन्ध को अनन्योन्याश्रित भाव से वह दूसरी तरह यों कहता है—

एक दीपक किरण-कण हूँ
धूम्र जिसके क्रोड़ में है
उस अनल का हाथ हूँ मैं
नव प्रभा लेकर चला हूँ
पर जलन के साथ हूँ मैं
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी
साधना का ज्वलित क्षण हूँ

कवि कभी-कभी अनुभूति की तीव्रता के कारण उस अनंत प्रियतम से मिलने की कल्पना करता है—

मैं तुम से मिल गया प्रिये !
यह है यात्रा का अंत
इसी मिलन का गीत कोकिले
गा जीवन · पर्यन्त
सुमन मधुप को बुला-बुला कर
देंगे यह सम्वाद
कलियाँ कल जागेंगी लेकर
इसी मिलन की याद।

कभी कोकिल के स्वर में अपने वियोगी हृदय का क्रन्दन सुन कर दुःख की इस समवेदना के द्वारा उस प्रियतम के पास आने की बात सोचता है—

आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को पीर रोई
एक· प्रतिध्वनि-सी हृदय में
क्षीण हो-हो हाय सोई
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया
यह तुम्हारा हास आया

कभी अपने जीवन की क्षणभंगुरता की याद दिलाता हुआ नभ के अंक में उमड़ती हुई ज्योत्स्ना की उमङ्ग सा उस प्रियतम में लय हो जाना चाहता है—

यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की
बरसी हुई उमंग
आत्मा-बनकर छू जाती है
मेरे व्याकुल अंग

आओ, चुम्बनसी छोटी है यह जीवन की रात

तो कभी उसके न आने की वेदना का वर्णन करता करता उससे उपालम्भ करता है—

भूलकर भी तुम न आये
आँख के आँसू उमड़ कर
आँख ही में हैं समाये
सुरभि से शृंगार कर नव वायु प्रिय पथ में समाई,
अरुण कलियों ने स्वयं सज, आरती उर में सजाई
बंदनाकर पल्लवों ने
नवल बन्दनवार छाये
मैं ससीम, असीम सुख से, सींच कर संसार सारा
साँस की विरुदावली से गा रहा हूँ यश तुम्हारा
पर तुम्हें अब कौन स्वर
स्वरकार ! मेरे पास लाये ?
भूलकर भी तुम न आये

वास्तव में इसी प्रकार की भावनाएं संतों और भक्तों के काव्य में प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं, परन्तु प्रतीक-विधान की आधुनिकता और नवीनता के कारण आज की रहस्यवाद की कविता उतनी स्पष्ट नहीं है। एक बात यह भी है कि रहस्यवाद की साधना तत्त्वतः आध्यात्मिक साधना है और आज के कवि के पीछे अध्यात्म-साधना का बल नहीं है। वह जो लिखता है वह ज्ञानयोजित है, स्वसंवेद्य नहीं। रहस्यवादी अनुभूति मूलतः स्वसंवेद्य है, कबीर के काव्य को पढ़कर ही इस प्रकार की अनुभूति जगाई जायगी तो उसमें अस्पष्टता रहेगी। वह उतरन मात्र (Second hand consciousness) रहेगी। अतः वह पाठक के हृदय के तारों को सच्ची अनुभूति की भाँति झंकार नहीं सकेगी। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक कवियों ने ससीम--

असीम के गीत गाये हैं, इस विराट विश्व में व्याप्त एक महान सत्ता की कल्पना की है और उससे, साधना द्वारा नहीं सही, काव्य के माध्यम से ही सही, अपना सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा की है। वीणा की झंकार दब गई है, इससे उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता।

९

'रहस्यवाद' और 'विज्ञानवाद'

इस ग्रन्थ के आरम्भ में हमने रहस्यवाद की व्याख्या की है और उसके ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विवेचन की ओर भी दृष्टिपात किया है। हमने देखा है कि प्रागैतिहासिक काल से रहस्यवाद की एक परम्परा इस देश में चली आती है और कालांतर में इसने औपनैषदिक विज्ञान, योग, तंत्र और शक्तिवाद का रूप ग्रहण कर लिया। हिंदी साहित्य में भी सिद्धों, नाथों, संतों और भक्तों के साहित्य में रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। आधुनिक काल में रहस्यवाद के अर्थों में विस्तार हुआ है और प्रकृति, सौन्दर्य, प्रेम और अन्य मानवीय सम्बन्धों को अत्यन्त निकट से देखने की प्रवृति को 'रहस्यवाद' कहा गया है। यदि हम ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट है कि विभिन्न पारिभाषिक शब्दों और साधनाओं की विभिन्नता के पीछे समस्त रहस्यवादी धाराओं में मूल में एकता है। धार्मिक रहस्यवाद की बात ही लो। ब्रह्म, जीव और प्रकृति की अद्वयता की सहजानुभूति को ही रहस्यवाद कहा गया है। सिद्धों, नाथों, सन्तों और भक्तों के साहित्य में नाम-भेद से इस अद्वैयता के दर्शन होते हैं। इस अद्वैयता के लिये कहा गया है—

लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जइ

(हरहपा)

इस अद्वैतावस्था के आनन्द की सभी साधकों ने ऊंचे स्वर में घोषणा की है। सरहपा कहते हैं—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि-शशि नाहिं प्रवेश
तहँ मुढ़ चित्त विश्राम करु, सरह कहेंउ उपदेश

आदि न अंत न मध्य नहिं, नहिं भव नहिं निर्वाण
एँहु सो परम महा सुख, नहिं पर नहिं अप्पान

गोरखनाथ इसी साध्यावस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

निरति न सुरति जोग न भोगं, जन्म मरण नहीं तहाँ रोगं
गोरख बोलैं एकाकारं, नहिं तहँ बाचा ओअंकारं
उदै न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्व व्यापीक सुलभ न अस्थूल

(उस परमानुभव में) न निरति है, न सुरति है; न योग है, न भोग; न वहाँ जरा है, न मृत्यु है और न रोग, न वहाँ वाणी है न भंकार। गोरख कहते हैं कि वहाँ तो केवल एकाकार (कैवल्य) अवस्था है, (किसी प्रकार का भेद भाव नहीं।)—(वहाँ) न उदय है न अस्त, न रात न दिन, सारी चराचरमयी सृष्टि में कोई भिन्नता का भाव नहीं अथवा सर्वेश और (उनकी) चर और अचर सृष्टि में कोई भेद-भाव नहीं है। वही शुद्ध निरंजन ब्रह्म रह जाता है, मूल और शाखा का भेद नहीं रह जाता। वही सर्वव्यापी रह जाता है जो न सूक्ष्म है न स्थूल"] इसे ही कबीर ने इस प्रकार कहा है—

हद छांड़ि बेहद गया, किया सुंनि असनान
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम

साधना की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच कर साधक को सत्य की रहस्यात्मक अनुभूति होती है जिसे कबीर ने परिचय या सम्यक् दर्शन कहा है। इस अवस्था में साधक, साधना और साध्य में एकात्मकता स्थापित हो जाती। दृश्य और द्रष्टा एक हो जाते हैं आत्मा असीम उल्लास से भर जाती है। यह 'बेग़म' देश (आनन्द का देश) है। इस अवस्था में पहुँच कर सन्त आनन्द में भर जाता है। उसका रोम-रोम नाच उठता है। यह "निरति" की अवस्था है। इसे ही उन्मन दशा या सहजसमाधि अवस्था कहा है। यह अनुभव क्षणिक नहीं है, स्थाई है—

मुरली बजत अखंड सदाये तहाँ प्रेम झनकारा हो
प्रेम हद तजी जब भाई, सत्तलोक की हद पुनि आई
उठत सुगंध महा अधिकाई, जाको वार न पारा हो
कोटि भानु राग का रूपा, बीन सतुधन बजै अपारा हो

तब सन्त को अपनी पिछली अवस्था का ध्यान करते हुए भी हँसी आती है—

पानी बिच मीन पियासी
मोहिं सुन-सुन आवै हाँसी

यह आध्यात्मिक अनुभव की परमावस्था है। अद्वैत का रहस्य है। इस समय जो अनुभव होता है, वह कहने की चीज नहीं है, कहा भी नहीं जाता। संत जीवन-युद्ध या कबीर के शब्दों में जीवन मृतक हो जाता है। वह भावना की लीला में भाग लेने लगता है। यह लीला स्वयं रहस्य है, स्वसंवेध है, अपने अनुभव की बात है। यह लीला क्या है, इसे अनुभवी कैसे बताये? वह तो इस लीला में भाग लेने वाले की साक्षी पर ही कह सकता है कि यह लीला भगवान और भक्त का वियोग और मिलन है। इस लीला में भाग लेने वाले भक्त को बेहद के देश का परिचय प्राप्त होता है। वह संसार को नये ढंग से देखने लगता है। उसकी इंद्रियां अत्यंत तीव्र हो जाती है। उनके गुणों का विपर्यय हो जाता है। जैसे वह अतिरिक्त इन्द्रिय से देख-सुन रहा हो। उसके अनुभव इतने मधुर, आकर्षक परन्तु जटिल हो जाते हैं कि वह उनका वर्णन नहीं कर पाता। संक्षेप में वह उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है जब—

आठहूँ पहर मतवाल लागी रहै
आठहूँ पहर की छाक पीवै
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै

ब्रह्म की छौल में साध जीवै
साँच ही कहत औ साँच ही गहतु है
काँच को त्याग करि साँच लागा
कहैं कबीर यों साध निर्भय हुआ
जनम और मरन का मर्म भागा
(शब्दावली)

भक्तों में चाहे रहस्य का इतनी ऊँची उड़ान नहीं हो, परन्तु उनका अनुभव भी कुछ भिन्न नहीं है—

सियाराम मय सब जग जानी
करौं प्रणाम जोर जुग पानी

इसी अद्वैयता की ओर संकेत करता है। अनुभूति-प्रधान भक्त मार्ग में आगे बढ़कर 'मानस' का कवि केवल वाक्य ज्ञान की निस्सारता की घोषणा करता है

वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुण भव-पार न पावै कोई
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहीं होई

साधना की चरमावस्था में निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत सब राम-भक्ति में डूब कर एक रंग हो जाते है। तुलसी कहते हैं

करम उपासन ग्यान वेदमत, सो सब भाँति खरो
मोहि तो सावन के अन्धहिं ज्यों, सूझत रंग हरो

भक्ति की इस चरमावस्था पर पहुँच कर सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। उस समय भक्त की दशा योगी की अवस्था से भिन्न नहीं होती—

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवे निद्रा तजि जोगी
सोइ हरिपद अनुभवै परमसुख अतिसय द्वैतवियोगी
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस निसि, देसकाल तह नाहीं
तुलसीदास एहि दसा हीन संशय निर्मूल न जाहीं

सूरदास ने तो सारे सूरसागर में अपने आराध्य से एकात्म भाव स्थापित करने की साधना ही बिखेर दी है। गोपियों के यश में ऊधव से वह

जो कहते हैं, वह उस पर भी उतना ही लागू है—

नाहिंन रह्यौ मन में ठौर
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत रात
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक लाभ दिखाय
कहा करौं तन प्रेम परगट घट न सिंधु समाय ?
स्याम गात सरोज आनन ललित अति मृदु हास
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास

साधना की इस सर्वोच्च अवस्था में आई ब्रह्म की अनुभूति हो, चाहे मन राम-कृष्ण के अलौकिक रूप में रम जाय, बात एक ही है। यहाँ राम-कृष्ण और ब्रह्म एक ही अर्थ रखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद के मूल में है महान के प्रति आत्म समर्पण, उससे अभेद-स्थापन, इस महामिलन की अलौकिकता और अनिर्वचनीय आनंद।

आधुनिक विज्ञानवाद और इस रहस्यवाद में विशेष अंतर नहीं है। विज्ञान बताता है कि प्रकृति (सृष्टि) मूल तत्त्व के रूप में वही एक शक्ति है जो अणु और ब्रह्मांड में समान रूप से प्रवाहित हो रही है और चेतना जिसका केवल एक व्यक्त रूप मात्र है। 'अंड में ब्रह्मांड' कह कर हमारे ऋषियों ने इसी सत्य को प्रगट किया है। सहज ज्ञान द्वारा उन्होंने इस सत्य की उपलब्धि की, प्रयोगों द्वारा नहीं, यह बात दूसरी है। इससे उपलब्ध सत्य में कोई अंतर नहीं आ जाता। इस 'अंड' को 'ब्रह्मांड' की अनुभूति होना सचमुच वो रहस्य की बात है, परन्तु जिसे इस प्रकार की अनुभुति हो जाती है, वह फिर क्षुद्र सीमाओं में बंधा नहीं रह सकता। यदि हम विज्ञान की भौतिक परत के नीचे उन महान समस्याओं को देखें जिनके सुलझाने में वैज्ञानिक अपना सुख होम देता है तो हमें निश्चय रूप से वही—समस्यायें मिलेंगी जो धर्म की समस्याएँ कही जाती हैं। यह जीवन क्या है ? यह जीवन कैसे

है ? यह जीवन क्यों है ? क्या जीवन सतत परिवर्तन शील है ? मृत्यु और जीवन में क्या भेद है ? चेतना क्या है ? जो हम इंद्रियों द्वारा देख-सुन पाते हैं, क्या वह सत्य है या मिथ्या या इससे परे है सत्य ? यही दर्शन के प्रश्न हैं, यही धर्म की मूल समस्यायें। शुद्ध विज्ञान इन्हें ही सुलझाने में लगा है। धर्म ने अपने ढंग पर इन समस्याओं को सुलझाया है, विज्ञान आज अपने ढंग पर सुलझा रहा है, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि दोनों के उत्तर एक हैं।

वैज्ञानिक और धर्मवेत्ता लगभग एक ही समान जीवन को अनबूझ पहेली मानते हैं। विज्ञान ने बुलबुले के समान परन्तु सतत केन्द्र से परिधि की ओर फैलते हुए विश्व की घोषणा की है यद्यपि नीहारिकाओं के अनेक आवर्तों और सौर्य-मंडलों की असंख्यताओं के कारण वह अब भी उसके लिये पहेली-भर है। वैदिक ऋषि ने भी आज के वैज्ञानिक की भाँति ही कभी प्रश्न किये थे—"हम विश्व को जब प्रजापति बनाने लगे तब क्या उसका आधार था, और कौन-सी सामग्री थी ? यदि विश्व का कोई उपादान था, तो वह कैसा था ? "वह ऐसा कौन-सा महावन था ? उस महावन में ऐसा कौन-सा महावृक्ष था जिसे काटछाँट कर द्यावा-पृथवी रूप संसार बनाया गया ? तैत्तिरीय ब्राह्मण के ऋषि ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया—

> **ब्रह्म वन ब्रह्म स वृक्ष आस**
> **यतो द्यावा पृथिवी निष्ट तक्षु**
> **मनीषिणो मनसा वि ब्रवीम को**
> **ब्रह्मध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन**

("ब्रह्म वन था। ब्रह्म ही वृक्ष था, जिससे द्युलोक और पृथिवी तरासे गये हैं। हे विद्वानों, मन से चिन्तन करके यह बताता हूँ कि ब्रह्म ही भुवनों को धारण करके उनका अधिष्ठाता बना हुआ है।") विज्ञान के अणु-परमाणु भी अबूझ हैं और यह ब्रह्म भी। गीताशास्त्र में जिस "ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्" अश्वत्थ के रूप में सनातन संसार की

कल्पना की गई है, वह आईन्स्टाइन के "बुदबुद" जैसे संसार से अभिन्न है। जीवन, मृत्यु, बिराट और काल की खोज से थक कर ऋषि उसे ब्रह्म की तरह अनन्त और अनिर्वचनीय कह देता है। आज का वैज्ञानिक भी हार कर कहता है—

"Unfathomable mysteries, such as life, being infinity, eternity, space, and, in general, if you look into the depths of things, nearly all that exist."

साधनों और प्रयोगों में भेद होते हुए भी हम अंत में एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

परंतु बुद्धि द्वारा जिन्हें नहीं जाना जा सकता, हृदय उनकी भी अनुभूति कर लेता है। इसी से ऋषियों ने "आत्मदर्शन" की महिमा गाई है। बुद्धिद्वारा अगम्य होने पर भी हृदय एक अनंत, अचिंत्य जीवन-प्रवाह की अनुभूति कर सकता है जिसका एक भाग द्रष्टा (जीव-आत्मा) है। वह उसे क्या नाम दे? गोरखनाथ की तरह वह कहता है—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा
गगन सिखर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा
अदेषि देखिया देषि विचारिवा अदिसिटि राजिवा चीया
पाताल की गंगा ब्रह्मण्ड चढ़ाइवा, तहाँ विमल विमल जल पीया

यह जो परमतत्त्व (जीवनप्रवाह या चेतना) है उस तक किसी की पहुँच नहीं है। वह इंद्रियों का विजय नहीं है। उसे न है कह सकते हैं, न "नहीं"। इस निर्लिप्त, अद्वैत, अदृष्ट सत्ता का नाम क्या होगा? इस अदेखे को देखना, इस पर विचार करना, उसे चित्त में रखना ही संत की साधना है। जब अपने क्षुद्र, निम्नगा जीवन-प्रवाह (पाताल की गंगा) को उस महान ऊर्ध्वगामी जीवन-प्रवाह (ब्रह्मांड की गंगा) में मिला देने में सफल-साधना हो जाता है, तभी उसे जीवन की महानता और उज्ज्वलता की वास्तविक प्रतीति होती है। यह बुद्धि

की साधना नहीं, हृदय मन की साधना है। इसके लिए उच्च नैतिक तत्त्वों का विधान है। परंतु वास्तव में लक्ष्य वही है जो आज विज्ञानवादी का है। अंतर केवल इतना है कि विज्ञानवादी 'जान' कर रह जाता है, 'रहस्यवादी' अनुभूति को ही जानना कहता। बुद्धि से जानना अधूरा जानना है, एक तरह से जानना है ही नहीं।

योगियों और आत्मदर्शियों ने जिसे संध्याभाषा और उलटवाँसियों में कहा, हिंदू धर्माचार्यों ने उसके लिए रूप की प्रतिष्ठा की। ब्रह्म विष्णु हैं। वह काल-रूपी शेष पर शयन करते हैं। उनकी भक्ति में अमृत का वास है। उन्होंने विष्णु के रूप की कल्पना की, उन्हें आयुध दिये, दिव्य वस्त्रों से सुसज्जित किया और अत्यंत ग्राह्य रूप में जनता के सामने उपस्थित किया। अनेक देवी-देवताओं और अनेक रूपकों के द्वारा उन्होंने सत्य को जनता के लिये सुलभ किया। वास्तव में पुराण की भित्ति हिन्दू दर्शन है। आज पश्चिमीय विज्ञान ने नीहारिकाओं और नक्षत्र-जगत के विषय में अत्यंत परिश्रम से खोज करके विश्व की अनंतता का निर्माण किया है। हिंदूधर्म ने इस ज्ञान को भगवान के विराट रूप की कल्पना के द्वारा जनसुलभ बना दिया है। कागभुशुण्डि राम के मुँह में चले जाते हैं। वहाँ परिस्थिति यह है—

उदरमाझ जनु अंडज राया
देखेहुँ बहु ब्रह्मांड निकाया
एक एक ब्रह्मांड महँ रहेउँ बरस सत एक
यहि विधि देखत फिरेउँ मैं अंडकटाह अनेक

भला इसमें और वैज्ञानिक विश्व की कल्पना में अंतर कहाँ है। जीवन की एकता, और अविनश्वरता अनन्ता का जो शतमुखगान आज विज्ञान के संसार में सुन पड़ रहा है, उसे ही ब्रह्म, शून्य, बिन्दु, राम, कृष्ण इत्यादि अनेक नामों से रहस्यवादियों ने साधना का विषय बनाया है।